श्री भागवत-दर्शन

भागवती कथा

(पैंतीसवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन-भवन,

झूसी (प्रयाग)

संशोधित मूल्य २-०० रुपए

द्वितीय संस्करण चैत्र शु० वि० २०१४] [मूल्य १।)

मुद्रक—भागवतप्रेस, प्रतिष्ठानपुर, प्रयाग

विषय-सूची

कुटनी आशा

भूमिका

परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिंगला।
तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया ॥१

(श्री० १० स्क० ४७ अ० ४७ श्लो०)

छप्पय

आशा तैं संसार बँध्यौ आशा ही जीवन।
आशा डोले संग सदा घर हो अथवा वन॥
आशा जगकी करै निराशा ही फल पावै।
आशा प्रभु की करै विपति-वारिधि तर जावै॥
आशा तजि कैं धीर जन, जावैं जग तैं निकरि कैं।
आशा मेरी यही कब, रोऊँ प्रभु पग पकरि कैं॥

संसार आशा के बल पर ही अवस्थित है। निराशा में जीवन नहीं, चेतना नहीं, स्फूर्ति नहीं, उल्लास नहीं। संसार में किसी को भी देखिये, वह किसी-न-किसी आशा से ही जीवित है। भीष्मपितामह, जिन्हें संसार में कोई नहीं जीत सकता था, वे समर में सो गये, विश्ववन्दित वीर द्रोणाचार्य मर गये, अपराजित

१—व्रजाङ्गनाएँ उद्धवजी से कह रही हैं—"उद्धव! हमने सुना है कि पिंगला नाम की वेश्या ने कहा था—'संसार में सर्वश्रेष्ठ सुख है किसी की आशा न करना।' किन्तु, हम करें क्या, यह सब जानते हुए भी श्रीकृष्णचन्द्र के दर्शन की जो आशा हमें लगी हुई है, उसे त्यागना हमारे लिये अत्यन्त ही कठिन है।"

सूर्य-पुत्र कर्ण भी सदा के लिये सो गये। फिर भी दुर्योधन विजय की आशा से शल्य को सेनापति बनाकर लड़ता रहा। स्वयं भी रण-भूमि में घायल पड़ा है, जंघाएँ टूट गयीं हैं, शरीर से रक्त बह रहा है, जीवित अवस्था में ही काक, कंक गृद्ध उसके शरीर का मांस नोच रहे हैं। ऐसी अवस्था में भी विजय के लिए अश्वत्थामा को सेनापति-पद पर अभिषिक्त करके, वह पाण्डवों के नाश के लिये भेज रहा है।' आशा कितनी बलवती है।

भरतजी के लिये जीवन की कौन-सी बात शेष रही थी? जो उनसे वात्सल्य-स्नेह रखते थे, वे पिताजी सुरपुर पधार गये। जो उनके सुहृद्, बन्धु, इष्ट और सर्वस्व थे,वे श्रीरामचन्द्र वन को पधार गये। अब वे श्मशान के सदृश अयोध्या में कैसे रह सकते थे? उनके लिए तो वहाँ एक क्षण भी रहना असह्य था। किन्तु वे वहाँ रहे। एक दो दिन नहीं, मास दो मास अथवा वर्ष दो वर्ष भी नहीं; पूरे चौदह वर्ष। केवल इसी आशाके भरोसे कि चौदह वर्षके पश्चात् मुझे राम के दर्शन होंगे।

शबरी को अब जीने की क्या आवश्यकता थी? उसे संसारी भोगों की आवश्यकता नहीं थी। जिनकी छत्रछाया में रहकर वह जीती थी, वे गुरुदेव भगवान् मतङ्ग मुनि अब सुरपुर पधार गये। किन्तु सहस्रों वर्षों तक वह आश्रम में गुरु के इन्हीं वचनों पर विश्वास करके जीती रही कि एक दिन राम पधारेंगे। राम के दर्शनों की आशा से ही वह जीती रही।

गोपिकाओं के लिये संसार सूना हो गया था। श्रीकृष्ण जब उन्हें छोड़कर मधुपुरी चले गये, तब उनके जीने का प्रयोजन ही क्या रहा? फिर भी वे जीवित बनी रहीं, इसी आशा से कि श्यामसुन्दर कह गये हैं, मैं लौटकर आऊँगा। संभव है, श्याम लौट आवें। बस, इसी एक आशा बन्धन के मारे उन्होंने अपने

जीवन को टिकाये रखा। अन्य आशायें छोड़ी भी जा सकती हैं, किन्तु, श्रीकृष्ण के मिलन की आशा को छोड़ना अत्यन्त दुष्कर है।

देवयानी को उसके इच्छानुसार सुन्दर, स्वस्थ, युवा, हँसमुख संगीतज्ञ, सुशील, कुलीन, विनयी और प्रेमी साथी मिल गया था। उसने अपने जीवन की समस्त आशाएँ उसी पर केन्द्रित कर रखी थीं। वह भी उससे अत्यन्त प्यार करता, उसके सभी काम बड़े उल्लास के साथ करता, उसे गा-बजाकर नाचकर, रिझाता, उससे प्रेम-भरी बातें कर-करके स्नेह-सागर में उसे डुबो देता, उसने उस गुरुपुत्री के पीछे अपने शरीर-सम्बन्धी सुखों को सुख नहीं समझा। गुरु का अपनी पुत्री पर अत्यन्त अनुराग है, वे उसे अत्यधिक प्यार करते हैं, उसके प्रसन्न होने पर गुरुदेव भगवान् शुक्राचार्य मुझपर प्रसन्न हो जायँगे, इसी आशा से वह प्राणों का पण लगाकर देवयानी की सेवा-शुश्रूषा करता। किन्तु देवयानी ने दूसरी ही आशालता का एक पौधा लगा लिया और उसे स्नेह-जल से सींच-सींचकर बड़ा किया। असुरों ने कई बार कच को मार डाला, किन्तु देवयानी के प्रसाद से, गुरु की कृपा से, प्रत्येक बार वह जी उठा और गुरु ने उसकी सेवा से सन्तुष्ट होकर उसे संजीवनी विद्या दे दी। कच कृतकार्य होकर घर चलने लगा। देवयानी की आशालता आवश्यकता से अधिक बढ़ गई। उसमें कलियाँ आने लगीं। उसने कचरूपी भ्रमर को रस-पान करने को आह्वान किया। किन्तु, उसने उसके आमन्त्रण को स्वीकार नहीं किया। सहसा आशालता पर तुषाराघात हुआ। वह जल गयी, मुरझा गयी, सूख गयी। रङ्ग में भङ्ग हो गया, आशा निराशा में परिणत हो गयी। प्रेम ने

कोप का रूप पकड़ लिया। दोनों ओर से शापाशापी हुई। यह सब आशा के कारण हुआ!

नैराश्य होने पर भी विषयों के प्रति आशा बनी रही। देवयानी ने पिता के प्यार का दुरुपयोग किया। उसकी आशा मर्यादा हीन थी। बूढ़े शुक्राचार्य उस युवती कन्या के ऐसे वश में हो गये कि उसके हाथों के खिलौने बन गये। मर्यादा त्यागने पर जो सुख की आशा रखता है, उसे सदा दुःख ही उठाना पड़ता है। संयोग से उसकी राजा ययाति से भेंट हो गयी। उसने उनसे अनुचित प्रस्ताव किया। ब्राह्मण पुत्री होकर उसने क्षत्रिय से विवाह करके सुख-प्राप्ति की इच्छा प्रकट की। राजा का भी मन विचलित हो गया। किन्तु उसे सर्वज्ञ शुक्राचार्य का भय था। देवयानी ने पिता को सहमत कर लिया। वह मर्यादाहीन विवाह हो गया। किन्तु उसका परिणाम जो होना चाहिये, वही हुआ। देवयानी का एक भी पुत्र राज्य का अधिकारी नहीं हुआ। वे सब वर्णाश्रम-बहिष्कृत हुए। राजा को भी देवयानी से सुख की आशा न थी, किन्तु, उसी के कारण उन्हें युवावस्था में वृद्धावस्था ग्रहण करनी पड़ी। पुत्र की युवावस्था को लेकर उन्होंने भोग किये, किन्तु विषयाशा शान्त न हुई। अन्त में अत्यन्त दुःखित होकर उन्होंने कहा—

"जो मन्दमतियों के लिये अत्यन्त दुस्त्यज है, और शरीर के जीर्ण हो जाने पर भी जो जीर्ण नहीं होती, उस दुःख बहुल विषयाशा तृष्णा को कल्याण की कामनावाले पुरुष को तुरन्त त्याग देना चाहिये।"

बात यह है कि यह शरीर ही आशा पर टिका है। जब तक साँस है, तब तक आशा है। जैसी आशा करोगे, वैसा फल मिलेगा। संसार अनित्य है, नाशवान है, दुःखबहुल है। इससे आशा रखोगे, तो दुःख की प्राप्ति होगी, नाशवान अनित्य और

क्षणभंगुर वस्तु मिलेगी और शुद्ध, सनातन, सुखस्वरूप सर्वेश्वर की प्राप्ति की आशा करोगे, तो उससे सुख मिलेगा, सनातन लोकों की प्राप्ति होगी। संसार की आशा हमे दीन बना देती है। मन मे जहाँ धन की आशा उत्पन्न हुई, वहाँ हमें धनिकों के सम्मुख झुकना पडता है। अपनी अकड के कारण हम सिर भले ही न नवावें, मन से तो हमें नवना पडता है। आशा एक अत्यन्त ही क्षीण और पतली वस्तु है। जहाँ आशा पूर्ण होने की किञ्चिन्-मात्र भी सम्भावना नहीं होती, वहाँ भी आशा की एक क्षीण रेखा दिखायी देती है। हाय ! आशा के पीछे मनुष्य क्या क्या नहीं करता और कितने कितने क्लेशो को सहन नहीं करता।

महाभारत के शान्तिपर्व मे इस विषय की एक बडी ही सुन्दर कहानी है। कोई सुमित्र के नाम के राजा थे। वे आखेट के लिये वन मे गये। एक बडे भारी मृग के पीछे उन्होंने घोडे को दौडाया। उन्हें पूर्ण आशा थी कि मैं इस मृगको अवश्य ही मार लूँगा। मृग बार बार उनके समीप आता—कभी छिप जाता, फिर प्रकट हो जाता। इस प्रकार वह राजा को एक अत्यन्त सघन वन मे ले गया। राजाने अपनी सम्पूर्ण शक्ति उस मृग को मारने में लगा दी। सहसा वह सम्मुख दिखाई दिया। राजा ने एक तीक्ष्ण बाण उसके ऊपर छोड ही तो दिया। किन्तु, हाय रे दुर्दैव ! राजा का लक्ष्य चूक गया, वह हिरण के न लगकर दूसरे स्थान मे लग गया। हिरण सघन वन में घुसकर अदृश्य हो गया। राजा की आशा पर पानी फिर गया। वह अपने साथियों से बिछुड गया था, दौडते दौडते थक गया, भूख प्यास से उसका मुख सूख गया था, अकृतकार्य होने से वह निराश हो रहा था। इसी निराशा मे जल की आशा से भटकता हुआ वह मुनियो के आश्रम पर पहुँचा। सम्मुख

उसने महामुनि ऋषभको देखा। दोनों ओर से शिष्टाचार हो जाने के अनन्तर राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! समुद्र और आकाश को लोग बहुत बड़ा बताते हैं। किन्तु, मेरा बुद्धि मे आशा इन दोनो से बड़ी है। कृपा करके आप यह बतावे कि असीम आशा रखनेवाले पुरुषमे और असीम आकाश मे बड़ा कौन है। ब्रह्मन्! इस आशा के सम्बन्धमे मुझे बड़ा सन्देह हो रहा है। आप सर्वज्ञ हैं, कृपालु हैं, मेरे प्रश्न का उत्तर देनेमे आपकी तपस्या मे बाधा न पड़ती हो, आपको अवकाश हो, तो मेरे इस आशा सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर दें, आशा का कारण बतावे और उसकी शक्ति का भी परिचय करावे।

यह सुनकर महामुनि ऋषभ हँसे और बोले—"राजन्! तुम्हारा प्रश्न बड़ा ही उत्तम है, इस विषय में मैं तुम्हें एक अच्छी अपनी आँखों-देखी घटना सुनाता हूँ। इस घटना को सुनकर ही आपके प्रश्न का उत्तर हो जायगा और आप का सन्देह भी दूर हो जायगा।

राजन्! एक बार मैं तीर्थाटन करते-करते बदरी वन मे चला गया। वहाँ अश्वशिरा नामक एक महर्षि का आश्रम था। वह बड़ा ही स्वच्छ लिपा पुता और ब्राह्मी श्री से युक्त स्थान था। उसमें स्थान स्थान पर देवताओं की वेदियाँ बनी हुई थीं, बदरी का एक वृक्ष था और नर नारायण मुनि भी वहीं तपस्या करते थे। समीप ही एक सुन्दर-स्वच्छ सलिलवाला सुहावना सरोवर था। मैंने सरोवर मे स्नान किया, नित्यकर्म से निवृत्त होकर मैं महामुनि अश्वशिरा के समीप गया। मुनि ने मेरा विधिवत् आतिथ्य किया और समीप ही एक कुटी मुझे रहने को दी। मैंने उस कुटीमें अभी अपना आसन भी नहीं रखा था, कि सहसा सामने से आते हुए मुझे एक विचित्र मुनि दिखायी दिये। अपने जीवन

मे आज तक ऐसा आदमी मैंने कभी देखा ही नहीं था। वे लम्बाई मे हम साधारण आदमियों से आठ दस गुने लम्बे थे, किन्तु वे इतने दुबले पतले थे कि उनकी कुछ उपमा ही नहीं दी जा सकती। उनका कोई भी अग कनिष्ठिका उँगली से मोटा नहीं था। फूँस की भाँति पतले पतले लम्बे-लम्बे उनके हाथ पैर थे। उनकी तृण के समान पतली पतली लम्बी-लम्बी उँगलियाँ थीं। उनके रूपानुरूप उनके सिर, मुख, आँख, कान, नाक आदि अग थे। मैं उन मुनि को देखकर भयभीत हो गया, डरके मारे मेरी घिग्घी बँध गयी। दौड़कर मैंने उनके चरणों की वन्दना की। इतने में ही और भी बहुत से ऋषि मुनि वहाँ आ गये। सबने उन्हे प्रणाम किया। सबके स्वागत सत्कार को स्वीकार कर वे महामुनि बैठ गये। उनका नाम महर्षि तनु था। उनकी आज्ञा पाकर हम सब मुनि भी उन्हे चारों ओर घेरकर बैठ गये। वे इधर-उधर की धर्म सम्बन्धी कथायें कहने लगे। उसी समय एक राजा वहाँ आया। वह अत्यन्त उदास था, मुख उसका सूखा हुआ था। श्रम के कारण उसके सब अङ्ग शिथिल हो रहे थे। उसने अपना नाम गोत्र बताकर मुनियों को प्रणाम किया और तनु मुनि को आज्ञा पाकर वह बैठ गया। मुनि ने राजा का यथोचित स्वागत-सत्कार करके, उनके दुःख का कारण पूछा।

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मेरा नाम वीरद्युम्न है। मेरा भूरिद्युम्न नाम का एक बड़ा ही सुशील, धर्मात्मा, इकलौता पुत्र था। वह यहीं कहीं अरण्य मे खो गया है। उसके खो जाने से मैं अत्यन्त दुःखी हूँ। मुझे संसार सूना सूना प्रतीत होता है। मैं इस आशा से इस वन मे आया हूँ, कि मेरा पुत्र मिल जाय। संसार मे आशा ही बडी दुर्लभ वस्तु है। मुनिवर! आशा से भी बढ़कर कोई दुर्लभ वस्तु है क्या? आप मेरे पुत्र के सम्बन्ध

में कुछ जानते हों तो मुझे बतावें।"

ऋषभ मुनि राजा सुमित्र से कह रहे हैं—"राजन्! जब महाराज वीरद्युम्न ने उन महर्षि तनु से यह पूछा, तो मुनिवर कुछ देर तक ध्यान करते रहे और अन्त में बोले—"राजन्! तुम्हारे पुत्र ने एक ऋषि की आशा पर पानी फेर दिया था। एक ऋषि ने उससे यज्ञ के लिये एक सुवर्ण कलश और वल्कल वस्त्रों की याचना की। इन वस्तुओं का देना तो दूर रहा उसने उलटे उन लोकपूजित विप्रर्षि का अपमान किया। इसीसे वह संकट में पड गया है। समर्थ होने पर भी जो किसी की आशा पर पानी फेर देता है, उसे भी कभी न कभी निराश होना पडता है।"

यह सुनकर राजा वीरद्युम्न को बडी निराशा हुई, वे वहीं मूर्छित होकर गिर गये।

राजा सुमित्र ने ऋषभ मुनि से पूछा—"ब्रह्मन्! राजपुत्र ने तो एक ऋषि का अपमान किया, उनकी आशा को भग्न किया किन्तु राजा ने कौनसा पाप किया था। जिससे उसे पुत्र शोक में निराश होना पडा।"

इस पर ऋषभ मुनि बोले—"राजन्! ये जो अत्यन्त क्षीण तनु नामक महर्षि थे, ये पहले मान सम्मान की इच्छा से राजाओं के यहाँ भ्रमण किया करते थे। घूमते फिरते ये राजा वीरद्युम्न के यहाँ भी गये। इसने इनका यथोचित-सत्कार नहीं किया। इससे इनके हृदय में बडी ठेस लगी।कभी कभी आशा भङ्ग होने पर आत्म सम्मान जागृत हो उठता है और आलसी पुरुष भी उद्योगी हो जाते हैं। उसी समय इन महर्षि ने प्रतिज्ञा की, कि मैं आज से किसी भी राजा से न तो किसी वस्तु की आशा रखूँगा और न इनसे किसी प्रकार की याचना ही

करूँगा। ऐसा निश्चय करके ये घोर तपस्या करने लगे, अपने शरीर को अत्यंत कृश बना लिया। मनुष्य को क्लेश तभी तक होता है, जब तक उसके मनमे आशा है। जहाँ आशा का परित्याग किया कि सब वस्तुएँ स्वतः ही आ जाती हैं। कभी स्वप्न मे भी जो आशा हुई होगी, वह भी पूरी हो जाती है। जिस राजा के यहाँ सम्मान की इच्छा से ये गये थे, उसने राज-मद मे भरकर जिनका प्रथम यथोचित सम्मान नहीं किया था, अब वही राजा आकर उन्हीं के चरणों मे लोटने लगा। यद्यपि राजा ने उन्हे पहिचाना नहीं था, कि ये वे ही महर्षि हैं, तथापि उनके सामने दीन हीन होकर वह गिडगिडया तो सही। राजा ने अत्यन्त दीनता के स्वर मे कहा—"ब्रह्मन्! आप मुझे आज्ञा दे, तो मैं एक प्रश्न करूँ।"

महर्षि तनु ने कहा—"हाँ, राजन्! पूछिये।"

राजा ने पूछा—ब्रह्मन्! आप मुझे बतावें, आशा कितनी दुर्बल वस्तु है। क्या उसकी कोई नाप-तौल भी है ?"

राजा के इस प्रश्न को सुनकर महामुनि तनु खिल खिलाकर हँस पडे। हँसते समय इनके छोटे से मुख के छोटे-छोटे चावल के दानों सदृश दाँत चमक रहे थे। वे बोले—"राजन्! इस आशा से बढकर संसार मे दुबली-पतली कोई वस्तु नहीं है।"

राजा ने पूछा—"क्यो भगवन्! आप आशा को सबसे दुबली पतली क्यो बता रहे हैं ?"

मुनि ने कहा—"राजन्! मेरे मन में जब भी कोई इच्छा उत्पन्न होती, इस आशा से कि अमुक राजा के समीप, अमुक धनवान् के पास, जाने से मेरी इच्छा पूर्ण होगी, मैं बडी आशा लेकर श्रीमानों के समीप, राजाओं के समीप अनेक बार गया हूँ। उस समय मेरे मन की कैसी दशा होती थी, उसे मैं ही जानता

हूँ। यह रॉड़ आशा जिस वस्तु के चित्र को भी मन के सम्मुख खड़ा कर देती है, उसी वस्तु को लेकर वह आकाश पाताल एक कर देती है—उसके यहाँ जायँगे तो आशा पूरा होगी या नहीं, हो जायगी तो यह करेंगे वह करेंगे ऐसे रहेंगे, ऐसा काम करेंगे। नजाने कितने संकल्प-विकल्प उठते हैं। कैसी भी आशा मन में उठ जाय, फिर उसे पूर्ण करने में बड़ा प्रयास करना होता है। आशा कभी पूरा नहीं होती। उसमें से शाखा-प्रतिशाखायें निकलती ही रहती हैं। जिसने संसार से आशा की, वह संसार का दास हो गया। जिसने समस्त आशाओं को तिलाञ्जलि दे दी, सम्पूर्ण संसार उसका दास बन गया। यह आशा ऐसी कुटनी है, कि जहाँ तनिक भी आशा के पूर्ण होने की संभावना न हो वहाँ भी यह लगी ही रहती है।"

राजा ने कहा—ब्रह्मन्! आशा को आपने दुर्बल भी बताया और उसकी प्रबल शक्ति को भी बताया। किन्तु, आप बुरा न मानें, तो मैं एक और प्रश्न करूँ।"

मुनि ने कहा—"राजन्! बुरा मानने की कौनसी बात है? आप इच्छानुसार जो पूछना चाहें पूछें।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! संसार में मैंने बहुत भ्रमण किया है, किन्तु आप के समान दुबला-पतला मैंने कोई भी श्रदमी नहीं देखा। कृपा करके यह बतावें कि संसार में आप से भी कोई दुबला-पतला पुरुष या स्त्री है?"

यह सुनकर महर्षि तनु फिर हँस पड़े, और बोले—"हाँ राजन्! मुझसे दुबली भी बहुत-सी वस्तुएँ हैं?"

राजा ने कहा ब्रह्मन्! उन्हें मुझे बताइये। आपके शरीर से दुर्बल कौन कौन वस्तुएँ हैं?"

मुनि बोले—"सुनिये राजन्! मैं बताता हूँ।"

१—कोई पुरुष है वह बड़ी आशा लेकर किसी व्यक्ति के पास गया। जिस व्यक्ति के पास वह जिस आशा से गया, उसमे आने वाले की इच्छा पूर्ण करने की भली भॉति सामर्थ्य है किन्तु उसने आगत व्यक्ति की आशा पूरी करनी तो पृथक् उसका यथोचित स्वागत-सत्कार तक नहीं किया, तो उस हताश व्यक्ति की आशा मेरे शरीर से कहीं अधिक दुर्बल है।

२—दूसरे चाहे जितना उपकार करें, किन्तु उनके उपकारों को जो नहीं मानते, प्रत्युत् उपकार करनेवालों का उलटा अपकार करते हैं, ऐसे कृतघ्न जो भी आशा करते हैं, उनकी आशा मेरे शरीर से अत्यन्त दुर्बल है।

३—जो लोग दूसरों की विनय सुनकर भी नहीं पसीजते, जो दूसरों के साथ सदा निष्ठुर व्यवहार करते रहते हैं, ऐसे कठिन हृदयवाले जो भी आशा करते हैं, उनकी आशा मेरे शरीर से अधिक दुर्बल है।

४—जो लोग दूसरों के घरों मे आग लगा देते हैं, तनिक से लोभ के कारण दूसरों को विष खिला देते हैं, अस्त्र शस्त्र लेकर दूसरों का अन्याय से वध करने को उद्यत रहते हैं, दूसरों के धन को बलपूर्वक छीन ले जाते हैं, दूसरों के खेतों पर बलपूर्वक अधिकार कर लेते हैं तथा दूसरों की स्त्रियों को उड़ा ले जाते हैं, ऐसे आततायी पुरुषों की आशा मेरे शरीर से दुर्बल है।

५—किसी के इकलौता प्यारा पुत्र है। वह साधु हो जाय, खो जाय, विदेश चला जाय, युद्ध करने चला जाय, बहुत दिनों से उसका कोई समाचार न मिले, फिर जो उसके मिलने की आशा रखता है,उसकी आशा मेरे शरीरकी अपेक्षा कहीं अधिक कृश है।

६—किसी निर्धन के एक पुत्र उत्पन्न होते ही वह आशा करने लगे, यह पढ लिखकर अमुक परीक्षा उत्तीर्ण होगा, फिर अमुक

पद प्राप्त कर लेगा, यथेष्ट धन उपार्जन करेगा, उससे हम घर बनवावेंगे। इस प्रकार उत्पन्न होते ही जो माता पिता अपनी सन्तान के भावी सुख की आशा करने लगते हैं, उनकी आशा मेरे शरीर से कहीं अधिक कृश है।

७—जो किसी व्यापार को आरम्भ करते ही यह आशा लगा लेते हैं कि जहाँ हमारा यह कार्य चालू हुआ, वहाँ हम लखपति-करोड़पति हो जायँगे, उनकी आशा मेरे शरीर से भी अधिक दुर्बल है।

८—कोई लड़की विवाहयोग्य हो गई है। माता पिता को उसके विवाह की अत्यधिक चिन्ता है, कई वर्षों से वे दिन रात्रि दौड़ते धूपते रहते हैं, पचासों लड़कों के माता पिताओं से बातें होती हैं, छूट जाती हैं। उस लड़की के सम्मुख जो विवाह की बातें की जाती हैं, उसकी आशा के सम्मुख मेरे शरीर की कृशता अत्यन्त ही तुच्छ है। उस बालिका की कैसी दशा होती होगी, जो क्षण क्षण इस आशा में रहती है कि सम्भव है उसके साथ सगाई पक्की हो जाय। वह कल सुनती है, वह सम्बन्ध नहीं हुआ फिर दूसरे से बात चलती है, फिर आशा होती है। फिर उस आशा पर भी पानी फिर जाता है। उस आशा की तनुता का बिना विवाह योग्य लड़की बने दूसरा कोई व्यक्ति अनुमान कर नहीं सकता।

ये आठ वस्तुएँ मेरे शरीर से भी कृश हैं। कहो तो और भी गिनाऊँ;?"

यह सुनकर राजा मुनि के पैरों पड़ गया और बोला—"ब्रह्मन्! आपका कथन सर्वथा युक्तियुक्त है। मैं अपने पुत्र की आशा से इस वन में भटक रहा हूँ। आप सर्वज्ञ हैं, मेरी इस आशा को पूर्ण कर दें, मेरे पुत्र को मुझसे मिला दें।"

यह सुनकर तनु महर्षि फिर खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—"राजन्! तुमने भी किसी की आशापर ऐसे ही पानी फेरा है। अस्तु, अब मैं तो तुम्हारी आशा को पूर्ण करूँगा ही। यह कहकर मुनि ने अपने योग बल से राजा के खोये हुए पुत्रको बुला दिया। राजा अपने पुत्रको पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। अब मुनि ने माया से बनाया हुआ वह अपना दुबला-पतला शरीर त्याग दिया और अपना यथार्थ रूप राजाको दिखाते हुए कहा—"राजन्! मैं वही मुनि हूँ, जिसका सामर्थ्य रहते हुए भी आपने सत्कार नहीं किया था, मुझे निराश कर दिया था तब से मैंने सबसे आशा छोड़कर तपस्या में चित्त लगाया। मनुष्य जब तक आशा को छोड़ता नहीं, तभी तक दुःख पाता है। बुद्धिमान पुरुष को चाहिये, कभी किसी से कोई आशा न करे। किन्तु, आशा बिना किये रहा नहीं जाता। तभी प्राणी दुःख पाता है।" इतना कह कर महर्षि तनु समीप के ही वन मे तपस्या करने चले गये। राजा वीरद्युम्न भी अपने पुत्र भूरिद्युम्न को साथ लेकर अपने घर को चले आये। महर्षि ऋषभ राजा सुमित्र से कह रहे हैं—"राजन्! हिरण आपके हाथ नहीं आया, तो आप इतने दुःखी क्यों हो रहे हैं? उस क्षुद्र आशा को छोड़िये और सुखी होइये।"

इस कथा से सारांश यही निकला कि मनुष्य अपनी आशाओं के ही कारण दुःखी हो रहा है। सुख का एक मात्र उपाय है, समस्त आशाओं को श्यामसुन्दर के चरणारविन्दों मे अर्पित कर देना। कितनी कितनी क्षीण आशायें चित्त मे उठती हैं, ये सब भगवान् की प्राप्ति मे लग जायँ, तो बेड़ापार हो जाय। समुद्रकी तरङ्गो का अन्त है, आकाश से बरसनेवाले जलबिन्दुओं की संख्या भी हो सकती है, पृथ्वी के रजकणो की गणना भी संभव है किन्तु, इन आशाओं की कोई संख्या नहीं! मनमें जो आशा

उत्पन्न हो जाती है, उसीका चित्र सम्मुख आ जाता है। इन आशाओं की चपेटों में ही हम इधर से उधर छटपटाते तिलमिलाते रहते हैं। मुझे आशा थी, छः वर्ष में अठारहों पुराणों की कथा भी हो जायगी और 'भागवती कथा' के १०८ खण्ड भी लिख जायँगे, किन्तु, इन पाँच वर्षों में न तो आधे पुराणों की कथा ही हुई, न आधा से अधिक 'भागवती कथा' ही लिखी गयी। तिसपर भी आशाओं का अन्त नहीं। एक के पीछे दूसरी, दूसरी के पीछे तीसरी, ऐसे ही आशाओं का ताँता बँधा रहता है। इन समस्त आशाओं का पर्यवसान कब श्यामसुन्दर के चरणारविन्दों में होगा, इसे वे ही जानें। प्रेमी पाठक और पाठिकाओं से मेरी यही करबद्ध प्रार्थना है कि अब मेरी समस्त आशायें उन चञ्चल-शिरोमणि श्रीकृष्णचन्द्र के चारु चरणारविन्दों में ही केन्द्रित हो जायँ।

छप्पय

होवे आशा असन भोग श्री हरि को खाऊँ।
जल की आशा होहि कृष्ण चरणामृत पाऊँ॥
चन्दन, माला, गन्ध वसन की उपजै आशा।
प्रभु-प्रसाद करि लेहुँ जगत् तैं होहि निराशा॥
आशा सब मिटि जाहि परि, सब आशा तुम महँ लगैं।
दम्भ, कपट, छल, लोभ भ्रम, तुमरो आशा तैं भगैं॥

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(प्रयाग)
ज्येष्ठ कृ० ६।२००७ वि०

तुम्हारे दर्शनों की आशा में
आशान्वित
प्रभुदत्त

अनुवंशीय महाराज उशीनर

(७६५)

अनोः सभानरश्चक्षुः परोक्षश्च त्रयः सुताः ।
सभानरात्कालनरः सृञ्जयस्तत्सुतस्ततः ॥
जनमेजयस्तस्य पुत्रो महाशीलो महामनाः ।
उशीनरस्तितिक्षुश्च महामनस आत्मजौ ॥१

(श्री भा० ९ स्क० २३ अ० १, २ श्लो०)

छप्पय

नृप ययाति के भये पुत्र चौथे जो नरपति ।
तिनि 'अनु' को अब वंश सुनहु जो है पावन अति ॥
भये सभानर, चक्षु परोक्षहु अनुसुत रनजय ।
पुत्र सभानर भये कालनर तिनिके सृञ्जय ॥
जनमेजय सृञ्जय तनय, महाशील तिनि पुत्रवर ।
महामना तिनि के तनय, तिनि तैं नृपवर उशीनर ॥

मनुष्य शरीर में सद्गुणों का निवास है और दुर्गुणों का भी जो अपने सद्गुणों का विकास करते हैं, वे सद्गुणों को परा काष्ठापर पहुँचा कर प्रभु को प्राप्त करते हैं। जो दुर्गुणों का विकास

१—श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज ययाति के 'अनु' नामक पुत्र के सभानर, चक्षु और परोक्ष—ये तीन पुत्र हुए। सभानर के सुत कालनर, उनके सृञ्जय, सृञ्जय के जनमेजय तथा जनमेजय के महाशील हुए और महाशील के महामना हुए। महामना के उशीनर और तितिक्षु—दो सुत थे।"

करते हैं वे पराकाष्ठापर पहुँचे दुगुणों से ही प्रभु को प्रसन्न करते हैं। जो बीच मे हा लटके है, वे क्लेश पाते हैं। मनमें दुगुण भरे हैं, ऊपर से सद्गुण का ढोंग रचते हैं। मन मे संग्रह की वासना है, पर जो ऊपर से त्यागी बने हैं, वे स्वार्थी हैं परमार्थी नहीं। जिसकी जिसमे भो निष्ठा हो, उसी की पराकाष्ठा कर दे, उसापर सर्वस्व निछावर करदे, तो भगवान् उसके सम्मुख ही खडे हैं। भगवान् के लिये न कुछ सत् है न असत्। वे तो आनन्द तथा सुख स्वरूप हैं। उनके लिय सब अच्छा ही अच्छा है। बुरे की कल्पना तो जीव ने अपने आप कर ली है। जीव अपनी निष्ठा मे अडिग रहता रहे, तो भगवान् उसी मे से प्रकट हो जाते हैं।

सूतजो कहते हैं—"मुनियो! अब मैं शर्मिष्ठा के द्वितीय पुत्र ययातिनन्दन अनु के वंश को कहता हूँ। नियमानुसार तो मुझे पहले महाराज यदुवंश वर्णन करके तब उनके छोटे भाइयों का वर्णन करना चाहिये था। किन्तु पिता के शाप से चारों भाई क्षत्रियपने से च्युत कर दिये गये थे। इन चारों को मंडलीक मान कर सम्राट् पुरु को ही बनाया गया था, अतः विपरीत ही वर्णन करना है, क्योंकि यदुकुल के वर्णन की पूर्ति के ही लिये इन चारों का वर्णन है। यदुकुल- वर्णन अङ्गी है, ये सब उसके अङ्ग हैं। हाँ, तो देवयानी के दूसरे पुत्र 'अनु' के सभानर, चक्षु और परोक्ष—तीन पुत्र हुए। इन मे सभानर के पुत्र कालनर हुए। कालनर के पुत्र परम धरमात्मा सृञ्जय हुए। सृञ्जय नाम के बहुत से राजा हो गये हैं, सृञ्जय से जनमेजय का जन्म हुआ। जनमेजय के पुत्र महाशील, महाशील के महामना और इन परम भाग्य शाली महाराज महामना के ही पुत्र जगत्विख्यात् उशीनर हुए। महाराज उशीनर को कीर्ति ससार में अब तक व्याप्त है। इनका

एक सबसे कठिन व्रत था—शरणागत की रक्षा करना। इनके सम्बन्ध मे एक बडा ही सुन्दर इतिहास है। इससे इनकी शरणागतवत्सलता का पता चलता है। अपनी निष्ठा मे दृढ रहने के लिये ये राज्य, धन, स्त्री, पुत्र तथा शरीर को भी कुछ नहीं समझते थे।

एक दिन महाराज उशीनर यज्ञ मडप में बैठे हुए यज्ञीय कार्य कर रहे थे। महाराज ने यज्ञ की दीक्षा ले रखी थी। इसमे उन्होंने नियम कर रखा था कि यज्ञ मे जो भी चाहो, आओ, यथेष्ट भोजन पाओ, जिस जिस वस्तु की आवश्यकता हो, ले जाओ। वहाँ सदा 'आइये' भोजन कीजिये, मलाई खाइये, लड्डू खाइये, खीर सपोटिये, रबडी पीजिये, इच्छानुसार पदार्थ पाइये, यही ध्वनि सुनाई देती रहती थी। जितने ही अधिक याचक आते, जितने ही अधिक अतिथि आकर प्रसाद पाते, राजा उतने ही अधिक प्रसन्न होते।

एक दिन राजा अपने सभासदों के साथ यज्ञ-मडप के सम्मुख एक चबूतरे पर बैठे कुछ धर्म चर्चा कर रहे थे, कि उसी समय आकाश से उडता हुआ एक कबूतर शीघ्रता के साथ राजा की गोद मे बैठ गया। यह देखकर सभा को परम विस्मय हुआ। कबूतर भयभीत था, वह उडते उडते थक गया था और डर मे राजा की गोद मे काँप रहा था। राजा को उसपर बडी दया आई। वे उसके शरीर पर हाथ फेरने लगे और उसे पुचकारने लगे।"

इतने मे ही तीक्ष्ण चोंच वाला, भयानकी आँखों वाला एक श्येन (बाज) पक्षी आकर राजा के सम्मुख निर्भय होकर बैठ गया और मानवी भाषा मे कहने लगा—"राजन! यह मेरा आहार है। इसे आपने क्यों छिपा रखा है? इसे मुझे दे दीजिये।" राजा तथा सभी सभासद एक पक्षी के मुख से मानवीय बातें सुनकर परम विस्मित हुए। राजा उसकी ओर देखकर बोले—

"पक्षिराज ! तुम ऐसा अन्याय क्यों कर रहे हो ? शरणागतों की रक्षा करना तो मेरा परम धर्म है। अभय की इच्छा से मेरी शरण मे आये हुए इस पक्षी को तुम मुझसे क्यों माँग रहे हो ? क्या मैं शरणागत का त्याग करके महापाप का भागी बनूँ ?"

बाज ने कहा—"राजन् ! अन्याय मैं कर रहा हूँ या आप ? आप मेरा आहार छीन रहे हैं। दूसरों की वृत्ति को विच्छेद करना तो सबसे बड़ा पाप है।"

राजा ने कहा—"अरे, भैया ! किसी जीव के प्राण लेना कहाँ का धर्म है ? दूसरों को मार कर खाना तो बड़ाभारी दोप है।"

बाज ने कहा—"महाराज ! इसका दोप आप मुझे क्यो देते हैं ? ब्रह्मा को इसका दोप दीजिये। उन्होने मेरी ऐसी वृत्ति क्यो बनाई ? जलके जीव दूसरे जलके जीव को खाकर ही तो जीते हैं। बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं। यदि किसी को न मारना ही ब्रह्माजी को इष्ट होता तो मकड़ी के पेट मे जाल का सूत्र क्यों पैदा करते ? मकड़ी जाल पूरकर उसमें जीवों को फँसाती है और दिनभर जीवों को खाती है। छिपकली छोटे-छोटे जीवों का ही आहार करके जीती है। बिल्ली चूहों को ही पकड़ पकड कर खाती है। सिंह वन मे रहता हुआ भी घास नहीं चरता, जीवों को ही मारकर खाता है। मनुष्य, जो अपने को सब से बड़ा बुद्धिमान् लगाता है, कितनी मछलियों को छौंककर खा जाता है, कितने बकरों को उदरस्थ कर जाता है। आप ही इस यज्ञ में कितने पशुओं की बलि दे रहे हैं ?"

राजा ने कहा—"भाई ! पशुओं की बात दूसरी है, मैं तो मनुष्य हूँ। जब मैं किसी को जिला नहीं सकता, तो मुझे किसी को मारने का भी अधिकार नहीं। शरण मे आये की रक्षा करना मेरा धर्म है। तुम्हे मेरे कार्य मे मेरी सहायता करनी चाहिये।"

बाज बोला—"राजन्! धर्म तभी होता है, जब पेट भर जाता है भूखे भजन नहीं होता। फिर क्या आप हिंसा से बचे हैं? आप जो फल खाते हैं, उनमे क्या जीव नहीं? वे भी बढ़ते हैं, उनको भी कष्ट होता होगा। आप जो हरे-हरे शाक खाते हैं, उनमें जीव नहीं? आप जो अन्न के बीज खाते हैं, क्या वे निर्जीव हैं? जीव न होता, तो वे दूसरे अंकुर को उत्पन्न कैसे कर सकते? हम तो एक दो जीवों को ही मारते हैं, आप तो असंख्य जीवों की हत्या करते है।"

राजा बोले—"भाई! यह तो विवशता है। अन्न न खायें, तो काम कैसे चले?"

बाज ने शीघ्रता से कहा—"यही बात महाराज! मेरे विषयमें भी सोच ले। इसे न खाऊँ तो शरीर कैसे चले? गौ घास के ऊपर दया करे,तो कै दिन वह जीवित रहेगी? इसलिये महाराज! आप इस मोह को छोड़िये। मुझ भूखे को मेरा आहार देकर परम पुण्य के भागी बनिये। मेरे आहार को चुराकर पाप न कमाइये। देखिये, इसे मारकर मैं स्वयं ही न खाऊँगा। अपने बाल-बच्चों को भी खिलाऊँगा। महाराज! धर्म-की गति बड़ी सूक्ष्म है। जिस धर्मानुष्ठान से दूसरे के धर्मानुष्ठान को आघात पहुँचे, वह धर्म नहीं, कुधर्म है। अविरुद्ध धर्म ही यथार्थ मे धर्म है।"

राजा ने कहा—"जहाँ दो धर्मों मे परस्पर विरोध हो, वहाँ क्या करना चाहिये?"

बाज बोला—"महाराज! वहाँ बलाबल देखना चाहिये। जिसके पालन से अधिक बाधा होती हो, अधिक लोगों का अकल्याण होता हो, वहाँ उसे छोड़कर, जिससे न्यूनतम आघात हो, उसका आचरण करना चाहिये। इस पक्षी को छोड़ देने से केवल आपका मन खिन्न होगा और हमारे तो सम्पूर्ण परिवार के प्राण

ही चले जायँगे। अतः आपको इसे हमे दे देना चाहिये।"

राजा ने कहा—"अच्छा, एक काम करो। तुम्हें इस कबूतर से तो कोई द्वेष है नहीं। तुम्हे तो आहार चाहिये। अब ऐसा काम करना चाहिय, कि शरणागत की रक्षा वाला मेरा व्रत भी खण्डित न हो और तुम्हे आहार भी मिल जाय। इसके लिये मैंने यह उपाय सोचा है, कि तुम्हे मैं अन्य जिस पक्षी का जितना कहो, उतना माँस मँगवा दूँ। तुम तो श्येन पक्षी ही हो। मेरे यहाँ बहुत से मरे हुए जन्तु हैं। जितना चाहो उतना माँस मैं तुम्हें दिला सकता हूँ। मेरे व्रत को खण्डित न होने दो।"

बाज ने कहा—"महाराज! मैं मरे हुओ का माँस नहीं खाता।"

राजा ने कहा—"अच्छा, जीवितो का मँगा दूँ।"

बाज ने कहा—"इससे लाभ क्या? एक के पीछे आप दूसरे जीवो की हिंसा करायेंगे, यह कहाँ की दया है?"

राजा ने कहा—"भाई! मुझे तो शरणागत की रक्षा करनी है। यह कबूतर मेरी गोद मे बैठा हुआ भय के कारण थर-थर काँप रहा है और मेरी ओर बार-बार सतृष्ण नेत्रों से देखकर यह भाव व्यक्त कर रहा है, "राजन्! मेरी रक्षा करो।" इसलिये मैं इस कबूतर की तो जैसे भी हो, वैसे रक्षा करूँगा ही। इसके बदले तुम जो मुझसे माँगोगे, वही मैं तुम्हें दूँगा।"

बाज ने कहा—"अच्छी बात है, महाराज! आपका यदि इस कबूतर पर इतना स्नेह है, आप किसी भी प्रकार इसे देना नहीं चाहते, तो एक काम करें, इस कबूतर के बराबर अपने शरीर से स्वयं माँस काटकर मुझे दें,। उसे खाकर मैं प्रसन्न हूँगा।"

यह सुनकर अत्यंत ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए बड़े उल्लास के साथ राजा ने कहा—"पक्षिराज! तुमने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की

मैं इसे अपना परम सौभाग्य समझता हूँ कि मेरे शरीर को ऐसे सुन्दर कार्य मे लगा रहे हो।" ऐसा कहकर महाराज ने एक बडा सा तराजू मगाया। एक ओर तो उन्होंने कबूतर को रखा, और दूसरी ओर अपने शरीर का मॉस रखा। किन्तु लोगों ने देखा, मॉस कम है, कबूतर वाला पलडा भारी है। तब राजा ने और मॉस काटकर रखा। फिर भी बराबर नहीं हुआ। राजा अत्यन्त उत्साह के साथ बार बार शरीर से काट-काटकर मॉस रखते, किन्तु कबूतर का पलडा पृथ्वी से उठता ही नहीं था। राजा ने जब देखा, मेरे शरीर मे मॉस नहीं रहा, तब वे स्वय पलडे मे जा बैठे।

यह देखकर बाज हँस पडा। सब के देखते देखते बाज वहीं विलीन हो गया। उसके स्थान मे वज्रहस्त पुरन्दर इन्द्र वहाँ खडे थे। उन्होंने मेघ-गम्भीर वाणी मे कहा—'राजन्! आप का कल्याण हो! वास्तव मे मैं बाज नहीं, देवताओं का राजा इन्द्र हूँ। यह कबूतर भी वास्तविक कबूतर नहीं। ये हव्यावाहन साक्षात् अग्निदेव हैं। हम दोनो आपकी धर्मनिष्ठा की परीक्षा लेने के लिये छद्म वेश बनाकर आपके यज्ञ मण्डप मे आये थे। हम आपकी स्वर्ग मे जैसी प्रसशा सुनते थे, आप उससे भी अधिक श्रेष्ठ सिद्ध हुए। इस शरणागत वत्सलतारूप परम धर्म के कारण आप की कीर्ति पताका प्रलय पर्यन्त तीनो लोकों मे फहराती रहेगी। भूमण्डल पर सूर्य चन्द्र के समान आप का यश अचल बना रहेगा।"

इतना कहकर अग्नि और इन्द्र तुरन्त वहीं अन्तर्धान हो गये। राजा भी अपने यज्ञ को पूर्ण करके धर्मानुष्ठान मे लग गये और धर्म पूर्वक पृथ्वी का पालन करने लगे। इन्हीं धर्मात्मा राजा के पुत्र त्रैलोक्य-वन्दित प्रातः स्मरणीय महाराज शिवि हुए, जिन्

अमल विमल धवल कीर्ति अब तक तीनों लोकों में व्याप्त हैं
महाभारतादि ग्रन्थों में यह बाज और कबूतर की कथा इन
सम्बन्ध में भी विख्यात है सम्भव है, इनके साथ भी यही घट
घटित हुई हो।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! महाराज शिवि
ऐसा कौन-सा गुण था, जिसके कारण वे आज भी अजर अम
बने हैं। महाभारतादि ग्रन्थों में बार बार इनका यशोगान किय
गया है, स्थान-स्थान पर इनके उपाख्यानों को गौरव से कह
गया है।"

इसपर सूतजी बोले—"महाराज ! राजर्षि शिवि में सभ
अलौकिक गुण थे। सभी सद्गुणों के वे भण्डार थे। किन्तु उनक
जैसा धैर्य तो ससार मे कहीं देखा नहीं गया। उनका धैर्य अलौ
किक था। उसके लिये उन्हे प्रयत्न नहीं करना पड़ता था, उनका
ऐसा सहज स्वभाव ही बन गया था, कि वे बड़ी से बड़ी दुर्घ-
टना होने पर भी विचलित नहीं होते थे। किसी भी अनुकूल या
प्रतिकूल घटना से उनके धैर्य का बाँध नहीं टूट सकता था।
महाराज ! स्त्री पुत्रों मे भूमि तथा भवनों मे ऐसी आसक्ति हो
जाती है, कि इनके नाश से मनुष्य अपना ही नाश समझने
लगता है। यह भगवान् की गुणमयी दैवी माया का ही प्रभाव
है। महाराज शिवि अपने धैर्य द्वारा इस माया को पार कर गये
थे। उनकी सत्य में निष्ठा थी। वे सत्य के पीछे सर्वस्व होमने के
लिये तत्पर रहते थे।"

यह सुन कर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! उशीनर नन्दन
राजर्षि शिवि के धैर्य की कथा आप हमें अवश्य सुनावें। इन
कथाओं के श्रवण से अन्तःकरण शुद्ध होता है और धर्म में प्रवृत्ति
होती है।"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है, महाराज अब मुझे महाराज शिवि का ही चरित तो सुनाना है। किन्तु अब मुझे शीघ्रता करनी है। अतः सक्षेप में ही सुनाऊँगा आप सब तो विद्वान् हैं अपने आप उसका विस्तार कर लेंगे।"

छप्पय

बनि के अग्नि कपोत उशीनर नृप ढिँग आये।
शक्र श्येन धरि रूप भूप कूँ वचन सुनाये ॥
यह कपोत आहार हमारो याकूँ त्यागो ।
नृपति कहैं—तजि याहि और चाहे जो माँगो ॥
माँग्यो नृप तन मास जब, हरषि करयो तन समरपन।
कृष्ण धैर्य तैं करे वश, लह्यो अन्त महँ भक्तिधन ॥

उशीनरनन्दन महाराज शिवि की कथा

(७६६)

शिविर्वनः शमिर्दक्षश्चत्वारोशीनरात्मजाः ।
वृषादर्भः सुवीरश्च मद्रः कैकेय आत्मजाः ॥१

(श्रीभा० ९ स्क० २३ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

तिनि के सुत शिवि भये क्रोधजित धैर्यवान अति ।
माँग्यो द्विज सुत मास दयो हर्षित ह्वै भूपति ॥
लेन परीक्षा महल माहिँ द्विज आग लगाई ।
तनिक न विचलित भये बात द्विज शीश चढ़ाई ॥
आये अज द्विज वेश धरि, लई परीक्षा कठिन अति ॥
मृतक पुत्र जीवित भयो, शिवि नरपति की विमल मति ॥

बिना स्वल्प वस्तु के त्याग के महान वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती। त्याग से ही वस्तु की वृद्धि होती है। कृषक प्रथम अन्न को मिट्टी में मिला देता है, उसका त्याग करता है, तब उसे एक अन्न के स्थान में बहुत अन्न मिलता है। व्यापारी विदेशों में अपने पास से द्रव्य लगाता है, तब उसे लाभ होता है। विदेशी व्यापारी अथाह जल के वक्षःस्थल को चीरते हुए दूसरे देशों में जाते हैं, अपना रक्त पसीना बनाते हैं, तब कुछ प्राप्त करते हैं।

१—श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज उशीनर के शिवि, वन, शमी और दक्ष—ये चार पुत्र हुए। इनमें से ज्येष्ठ महाराज शिवि के भी वृषादर्भ, सुवीर, मद्र और कैकेय—चार सुत हुए।"

कामी पुरुष कामिनी के पीछे प्रिय से प्रिय वस्तु त्याग देते है। इसी प्रकार धर्मनिष्ठ पुरुष धर्म के पीछे अपना सब कुछ होम देते हैं, जो प्रण वे कर लेते है, प्राणपण से उसे पूरा करने का प्रयत्न करते है। जिन्हे इस नश्वर शरीर मे, क्षणभंगुर संसारी विषय भोगो मे, नाशवान् ईंट पत्थरो के घरो में मोह है, वे ससार से परे की वस्तु को कैसे प्राप्त कर सकते है ? जब स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के ही लिये इस लोक के सभी सुखो को त्यागना होता है, तब भगवान् तो स्वर्ग मे भी दूर हैं, उनकी प्राप्ति के लिये तो इह लोक तथा परलोक, दृष्ट और श्रुत सभी सुखो को त्यागना होगा। राज पाट,कोष, किला, स्त्री पुत्र तथा समस्त विषय भोगो को त्यागकर विशुद्ध धर्म की प्राप्ति हो सके, तो ऐसा कौन बुद्धिमान होगा, जो इन नाशवान-क्षुद्र भोगों के त्याग में ननु नच करेगा। किंतु मूर्ख लोग, नारकीय पुरुष, पैसे पैसे के लिये असत्य भाषण करते हैं। वे सोचते है—"चाम भले ही जाय, छदाम न जाय।" वे इसी प्रकार दुःख सुख सहते हुए चौरासी के चक्कर मे घूमते रहते हैं। जो धर्म के पीछे सर्वस्व निछावर कर देते हैं, वे अपनी अमल-धवल कीर्ति को सदा के लिये भू मण्डल पर छोड़कर दिव्य लोको मे आनन्द विहार करते हुए, अन्त मे परमपद के अधिकारी बन जाते हैं।

सूतजी कहते है—'मुनियो ! अब मै उशीनर नन्दन महाराज शिवि का पावन चरित कहता हूँ। इनको हुए कई युग हो गये। फिर भी इनकी कीर्ति ससार में ज्यो की त्यो बनी है, और तब तक बनी रहेगी, जब तक गङ्गा, यमुना, हिमालय, चन्द्र, सूर्य तथा यह सृष्टि रहेगी। महाराज शिवि ने अपने पुण्य कर्मो से सभी दिव्यलोकों को जीत लिया था। पृथ्वी पर अपने समान सभी राजाओं को बाहुबल से जीतकर उन्होंने सपत्ननि श्री उपाधि

प्राप्त की थी। राजा ने कितने यज्ञ, पुण्य कर्म किये और दान दिये, इसकी गणना नहीं। पृथ्वी के रजकणों की, मेघ बूँदों की आकाश के तारागणों तथा नक्षत्रों की, समस्त जीवों के रोमों की सातों समुद्रों के जल बिन्दुओं की भले ही कोई गणना कर ले, किन्तु महाराज शिवि ने ब्राह्मणों को कितनी गौएँ दीं, कितनी सुवर्ण मुद्राएँ बाँटी, इनकी गणना अत्यन्त ही कठिन है। उन्होंने जितने यज्ञ किये, उतने प्रजापतियों को छोड़कर किसी ने न किये होंगे। समुद्रों में जितने जीव-जन्तु निवास करते हैं, उतनी गौएँ उन्होंने दान दी होंगी। उनके यज्ञों में आओ, नहाओ, खाओ ले जाओ—ये ही शब्द सुनाई देते थे। महाराज की उदारता से प्रसन्न होकर सदाशिव भोले नाथ शंकर ने उन्हें आशिर्वाद किया था—"तुम्हारा कोश कभी खाली न होगा।" यह वर पाकर तो राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा था। वे दोनों हाथोंसे धन-रत्न लुटाते रहते थे उन्होंने घोषणा कर रखी थी कि जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता हो वह मुझसे वही निःसंकोच आकर ले जाय। राजा कल्पवृक्ष के समान सब की इच्छाओं को पूर्ण किया करते थे। उनके द्वार से कोई भी अतिथि निराश होकर नहीं लौटाता था।

एक दिन महाराज के यहाँ एक तेजस्वी ब्राह्मण आया। उसे अपनी सभा में आये हुए देखकर राजा ने श्रद्धा-भक्ति के सहित उनका अभिनन्दन किया। उनका कुशल पूछकर उनकी विधिवत पूजा करके, हाथ जोड़कर, नम्रता के साथ राजा ने उनसे पूछा—"ब्रह्मन्! इस दीन पर आपने कैसे कृपा की? मेरे योग्य कोई सेवा हो तो निःसंकोच मुझे आज्ञा दीजिए।"

ब्राह्मण ने कहा—"हाँ, राजन्! मैं आप के समीप एक कार्य से आया हूँ।"

राजा ने कहा—"आज्ञा करें, भगवन्! मेरा धन, प्राण सर्वस्व ब्राह्मणों और अतिथियों का ही है।"

ब्राह्मण बोले—"राजन्! मैं भूखा मरता हूँ, आहार की इच्छा से आपके समीप आया हूँ।"

राजा ने अत्यन्त नम्रता से कहा—"प्रभो! मेरे यहाँ षट्रस-युक्त ५६ प्रकार के व्यंजन तैयार हैं। आज्ञा करें, आप कैसा भोजन करेंगे।"

ब्राह्मण ने कहा—"मुझे ऐसा भोजन नहीं चाहिये। मैं तो अघोरी सम्प्रदाय का हूँ मुझे भोजन के लिये मांस दीजिये।"

राजा ने धैर्य के साथ कहा—"मांस भी तैयार है। कहिए मृग का, शूकर का, शशक का, अज आदि किस मेध्य पशु का मांस आप खायेंगे।"

ब्राह्मण बोले—"राजन्! इनमें से किसी के मांस पर मेरी रुचि नहीं, मैं तो नर मास खाऊँगा।"

राजा ने कहा—"बधशाला में नर-मांस भी मिल सकता है।"

ब्राह्मण ने कहा—"ऐसा नर-मांस मुझे नहीं चाहिये। मैं तो राज पुत्र का मांस खाऊँगा। यदि तुम अपने इकलौते कुमार का स्वयं मांस पकाकर लाओ, तो उसे ही मैं खाकर तृप्त होऊँगा।"

राजा ने अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"ब्रह्मन्! मेरा तथा मेरे पुत्र का अहोभाग्य! आज उसका राजकुल मे जन्म लेना सार्थक हो गया, जो उसका शरीर अतिथि-सेवा मे लगेगा। ब्रह्मन्! इस हाड मास के बने शरीर का यही एकमात्र उपयोग है, कि इससे धर्मोपार्जन किया जाय। यदि मानव-देह से कैतव-रहित धर्म का उपार्जन हो सके, तो ऐसे शरीर का एक दिन का जीवन भी धन्य है! इसके विपरीत जो सुन्दर-स्वादिष्ट पदार्थ

खाते हुए, मांस को बढाते हुए, उनका मल बनाते रहते हैं, पावन भूमि को अपावन बनाते रहते हैं, ऐसे शिश्नोदरपरायण पुरुष यदि कल्प तक भी जीवें, तो उनके जीवन से क्या लाभ ? ब्रह्मन् ! आप विराजें, मैं अभी अपने पुत्र का मांस बनाकर लाता हूँ।" यह कहकर राजा वहाँ ब्राह्मण को बिठाकर अन्तःपुर में गये। वहाँ उन्होंने अपने राजकुमार वृषादर्भ को अपने हाथों से काटकर मांस को स्वयं पकाया।"

सूतजी कहते हैं—"भगवन् ! आप इसमें आश्चर्य न करें। *जिन्होंने सत्य का व्रत ले रखा है, उनके सम्मुख ये स्त्री, धन, पुत्र* आदि अत्यन्त ही तुच्छ पदार्थ हैं। उनके लिये अपने पुत्र तथा बकरे के पुत्र में कोई अन्तर नहीं। हम तो माया के चक्कर में फँसकर मोह वश आसक्ति-वश एक को अपना समझते हैं, दूसरे को पराया। किन्तु जो सत्निष्ठावान् पुरुष हैं, वे सभी को प्रभु सेवा का उपकरण समझते हैं। भगवान् ने जो भी कुछ दिया है, भगवत् और भागवतों की सेवा के ही निमित्त दिया है। महाराज ! एक आचार्य थे। उनका एक निष्ठावान् शूद्र शिष्य था। आचार्य उससे बहुत स्नेह करते थे। आचार्य कुछ वृद्ध हो चले थे। अतः वे उसके कंधे पर हाथ रखकर चलते थे। इससे उनके उच्च जाति के शिष्य मन ही-मन कुढते थे। सर्वज्ञ आचार्य उनके मनके भाव को समझ गये। जिन शूद्र भक्तपर महाराज का अनुराग था, वे कोई एक उपपत्नी रखे हुए थे। उससे वे बहुत स्नेह करते थे। एक दिन आचार्य ने अन्य भागवतों से कहा—रात में जब इस शूद्र भक्त की उपपत्नी सो रही हो, तब तुम सब जाकर उसके अङ्ग के सब आभूषण उतार लाओ।"

आचार्य का ऐसा आज्ञा पाकर अन्य शिष्य अत्यन्त हर्षित हुए। वे शूद्र भक्त तो घर में थे नहीं, उनकी पत्नी सो रही थी।

सो क्या रही थी, आँख बन्द करके एक करवट से लेटी हुई थी। आचार्य की आज्ञा से वे सब भागवत उसके घरगये। शनैः शनैः उसके अङ्ग के सब बहुमूल्य आभूषण उतारने लगे। जब एक अङ्ग के सब आभूषण वे उतार चुके, तब उसने करवट बदली। शिष्यों ने समझा,अरे, यह तो जाग रही है। वे तुरन्त वहाँ से भाग गये। भक्त जी घर आये, स्त्री से पूछा—"तेरे एक अङ्ग के आभूषण कहाँ गये ?"

उसने कहा—"कुछ वैष्णव भागवत आये थे। वे मेरे शरीर के आभूषणों को उतार ले गये।"

अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए भक्तजी बोले—"तो, फिर वे दूसरे अङ्ग के आभूषणों को क्यों छोड़ गये ?"

स्त्री ने कहा—"मैंने करवट बदली, तभी तो वे भाग गये।"

डाँटकर भक्तजी ने पूछा—"तूने करवट ही क्यों बदली ?"

स्त्री ने कहा—"प्राणनाथ ! करवट मैंने इसलिये बदली, कि वैष्णवगण दूसरे अङ्ग के भी आभूषण उतार सकें।"

गरजकर भक्तजी बोले—"तुझे स्वयं करवट लेने की क्या आवश्यकता थी ? यह शरीर, धन, आभूषण तथा हमारा सर्वस्व वैष्णवों का ही है। वे स्वयं जैसे चाहते, शरीर को उलट-पुलट लेते। अभी तेरी वैष्णवों मे निष्ठा नहीं।" यह कहकर उन्होंने उसका उसी समय परित्याग कर दिया। आचार्य ने जब यह बात सुनी, तब अपने उच्चवर्णाभिमानी भक्तों से कहा—"बताओ, तुम में से किसकी भगवद्भक्तों के प्रति ऐसी निष्ठा है ?" यह सुनकर वे सबके सब लज्जित हुए और उनका उस दिन से अत्यधिक आदर करने लगे।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो ! आप यह न सोचें, कि महाराज शिवि ने अपने हाथ से अपने सगे पुत्र का सिर काटकर

उस मांस को कैसे पकाया ? साधुओं के लिये कौन सा ऐसा कार्य है, जो दुस्साध्य हो ? अपनी निष्ठा के लिये साधु पुरुष सब कुछ कर सकते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"हाँ, तो सूतजी ! फिर क्या हुआ ? उन ब्राह्मण ने उस बालक का मांस खाया ? वे ब्राह्मण क्या थे, पूरे राक्षस थे। ऐसे राक्षस के प्रति भी श्रद्धा बना रहनी सचमुच अत्यन्य आश्चर्य की बात है।"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज ! ऐसा होना अत्यन्त कठिन है। इतिहास में हरिश्चन्द्र, दधीचि महाराज शिवि आदि ऐसे इने-गिने ही दृष्टांत हैं। हाँ, तो अपने पुत्र का मांस राँधकर वे लाये। किन्तु जहाँ ब्राह्मण को वे बिठा गये थे, वहाँ ब्राह्मण मिला ही नहीं। अत्यन्त ही शङ्कित चित्त से पुत्र के राँधे मांस को सिर पर रखे राजा उस अतिथि द्विज को इधर-उधर खोजने लगे। किन्तु उनका कहीं पता ही न चला। इतने में ही एक राजकर्मचारी ने आकर कहा—"प्रभो ! जिस ब्राह्मण ने राजकुमार का मांस माँगा था वही आपके आने में देर होते देख, महलों में कोषालय तथा अन्य स्थानों में क्रुद्ध होकर अग्नि लगा रहा है। समस्त बहुमूल्य सामग्रियाँ स्वाहा हो रही हैं।" इतना सुनकर भी महाराज विचलित नहीं हुए। धैर्य के साथ इस बात को सुनकर वे अतिथि द्विज के समीप गये और अत्यन्त ही नम्रता के साथ बोले—"भगवन् ! मेरा अपराध क्षमा हो। आने में विलम्ब हुआ। आपकी आज्ञानुसार मैं अपने पुत्र का मांस बनाकर लाया हूँ, आप इसे प्रेमपूर्वक पा लीजिये।

ब्राह्मण ने वस्त्र उठाकर थाली में रखे मांस को देखा और कुपित होकर बोला—'हम आज्ञा देते हैं, तू ही इस मांस को खा जा।"

ब्राह्मण की ऐसी बात सुनकर राजा बिना किसी प्रकार की हिचकिचाहट के ब्राह्मण की आज्ञा से पुत्र मास को खाने के लिये उद्यत हो गये। उन्हो ने ज्यो ही बच्चे की खोपड़ी को हटाकर मास खाना चाहा, त्यो ही ब्राह्मण ने हँसकर हाथ पकड़ लिया और बोले—"राजन् ! यथार्थ मे आपने क्रोध को जीत लिया है। वास्तव मे आपकी निष्ठा दृढ है। आप इस भगवान् की माया को तर गये। मैं साक्षात् चतुरानन ब्रह्मा हूँ। आपके धैर्य की परीक्षा लेने के निमित्त ही मैं वेष बदल कर आपके यहाँ आया था। अब मैं समझ गया कि आप अतिथियो की सेवा के लिये सब कुछ कर सकते हे, ब्राह्मणो के लिये सम्भव असम्भव सभी प्रकार की वस्तुओं को दे सकते है। ऐसा कहकर ब्रह्माजी अपना यथार्थ रूप दिखाकर अन्तर्हित हो गये। राजा ने देखा, उनका वही पुत्र वस्त्र आभूषणों से अलकृत होकर सामने से आ रहा है। जिस पुत्र को वे मार चुके थे, उसे पुन आते देखकर राजा ने यह सब भगवान् की कृपा ही समझा।

ब्राह्मण जब अन्तर्हित हो गये, तब सभा मे बैठे राजा से सभासदों ने पूछा—"प्रभो ! हम आपसे यह पूछना चाहते हैं कि आपने ऐसा कठिन कार्य किस कामना से किया था? क्या यश प्रतिष्ठा की अभिलाषा से आपने ऐसा दुस्साहस किया था ?"

यह सुनकर सरलता के साथ शिवि ने कहा—'भाइयो ! मैं जो भी दान देता हूँ, यज्ञादि शुभ कार्य करता हूँ, वह सब यश कीर्ति, ऐश्वर्य अथवा प्रतिष्ठा के निमित्त नहीं। मुझे इसके उपलक्ष्य मे कोई अन्य उत्तम वस्तु प्राप्त हो, ऐसी भी कामना मैं नहीं करता दान देना सनातन से धर्म माना गया है पुण्यात्मा लोग दान देते आये हैं। यही समझकर निष्कामभाव से मैं इसका आचरण

करता हूँ। जैसे चोर स्वभाववश चोरी करता है, सुरापी को बिना सुरापान किये रहा नहीं जाता, वैसे ही दान देना मेरा स्वभाव हो गया है, उसमें न तो मुझे प्रयास करना पड़ता है और न मैं इसके बदले कुछ चाहता ही हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! राजा की ऐसी निष्कपट सीधी सरल बातें सुनकर सभी सभासद परम सन्तुष्ट हुए। महाराज की इस निष्काम वृत्ति को देखकर सुरासुर-पूजित ब्रह्मपुत्र देवर्षि नारद भी चकित हुए और उन्होंने राजा शिवि के सम्मुख अपने को भी तुच्छ माना।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! नारदजी तो भगवान् के अवतार हैं। उन्होंने अपने को महाराज शिवि से छोटा क्यों माना ? क्यों उन्होंने ऐसा कहा ? कृपा करके इस कथाप्रसङ्ग को भी हमें सुनावें।"

इसपर सूतजी बोले—"राजन् ! एक बार यज्ञ करके विश्वामित्र के पुत्र अष्टक विमान में चढ़कर स्वर्ग में जा रहे थे। उनके साथ उनके भाई प्रतर्दन, वसुमना और उशीनर सुत ये महाराज शिवि भी थे। मार्ग में इन सबको देवर्षि नारदजी मिल गये। इन सबने नारदजी का सत्कार किया और कहा—"भगवन् ! आप भी हमारे साथ स्वर्ग चलें। बात-चीत करते-करते मार्ग आनन्द पूर्वक कट जायगा।"

नारदजी तो घुमक्कड़ ही ठहरे। उन्हें इसमें क्या आपत्ति होनी थी ? अतः वे भी साथ हो लिये। बात-चीत होते होते एक ने पूछा—"महाराज ! हम चारों में से सबसे पहले स्वर्ग से च्युत कौन होगा ?"

नारदजी ने कहा—"भाई ! अष्टक ही सबसे पहले स्वर्ग से च्युत होकर धराधाम पर आवेंगे।"

उसने पूछा—"सो क्यों ? महाराज !"

नारदजी बोले—"एक वार मैं अष्टक की राजधानी में गया। दूसरे दिन ये मुझे सुंदर-सुवर्ण-मंडित रथ मे विठाकर वायु सेवनार्थ ले गये। वहाँ मैंने लाखों बड़े-बड़े ऐनवाली गौएँ चरते देखीं मैंने पूछा—"ये गौएँ किसकी हैं ?"

अष्टकने अभिमान से कहा—"ब्रह्मन्! ये गौएँ मैंने ही ब्राह्मणों को दान मे दी हैं। इससे मुझे पुण्य लोकों की प्राप्ति होगी।" राजा ने अपने मुख अपने दान की प्रशंसा की। इसलिये इन्हें सर्वप्रथम पृथ्वी पर आना होगा।"

तब उन तीनों में से एक ने पूछा—"अच्छा, हम तीनों मे से कौन प्रथम पृथ्वी पर लौटेगा ?"

नारदजी बोले—"आप लोगों मे से प्रतर्दन पहले स्वर्गसे च्युत होगा। इसकी भी कथा सुनो। मैं तो घूमता ही रहता हूँ। ऐसा एक भी राजा न होगा, जिसके यहाँ मैं न गया होऊँ,एक वार मैं इनके यहाँ गया। मुझसे घूमे विना तो रहा ही नहीं जाता। ये भी मुझे रथ में विठाकर घुमाने ले गये। रथ मे चार घोडे लगे थे। क्रम से राजा के समीप आकर चार ब्राह्मणों ने एक-एक घोडे की याचना की। राजा ने सवसे ही कहा—"मेरे घर से घोडा लेना।"जब सब ने वहीं लेने का आग्रह किया, तब एक के पश्चात् दूसरा, दूसरे के पश्चात् तीसरा, ऐसे चारो घोडे इन्होंने दान में दे दिये। दान तो इन्होंने दिया ही, किन्तु संकोच के साथ आग्रह करने पर दिया। अतः तुम तीनों से पहले ये पृथ्वी पर आवेंगे।"

तब शेष दो ने पूछा—"हम दोनो मे से प्रथम कौन स्वर्ग च्युत होगा ?"

नारदजी बोले—"वसुमना ही प्रथम पृथ्वी पर आवेंगे। इसका भी कारण सुनें। इनके पास एक पुष्परथ नाम का ऐसा

रथ था, कि वह चाहे जहाँ जा सकता था। मेरे मन में आया कि इस राजा से वह रथ लेलूँ, तो इसी में बैठकर घूमा करूँ। मैंने इनसे माँगा, तो ये बोले—"महाराज! आपका तो रथ है ही, चाहे जब ले जायँ।" मैंने फिर आकर माँगा, तो फिर उन्होंने ऐसा ही गोल- मटोल उत्तर दिया—"हाथ-पाँव को बचाना, मूँ जो मो टरकाना" "कोठी कुठिला से हाथ न लगाना मव तुम्हारा ही माल खजाना।" इस प्रकार मुझ से मना तो किया नहीं, किन्तु रथ दिया भी नहीं। अतः तुम दोनों में से ये वसुमना ही प्रथम पृथ्वी पर आवेंगे।"

यह सुनकर एक ने कहा—"अच्छा, मान लीजिये, ये शिवि और आप दोनों स्वर्ग जायँ,तो किस का प्रथम पतन होगा ?"

नारदजी बोले—"भाई, शिवि से पहले मेरा ही पतन होगा। शिवि के समान धैर्य, साहस और सत्य-बल,मुझ में नहीं है। शिवि की जैसी निष्ठा मेरी कैसे हो सकती है ? ये जो भी कर्म करते हैं, निष्काम भाव से, कर्तव्य समझकर करते हैं। ये फल की इच्छा रखकर कार्य नहीं करते। ये उदारता में, सद्गुणों में, त्याग और तितिक्षा में, सभी नर-पतियों से श्रेष्ठ हैं। यह बात मैं बार-बार कह चुका हूँ। एक बार मैंने देखा, एक मार्ग में कुरुवंशी महाराज सुहोत्र और ये— दोनों एक दूसरे का मार्ग रोके खड़े हैं दैवयोग से घूमता-फिरता मैं भी वहाँ जा पहुँचा। मैंने पूछा—"तुम दोनों एक दूसरे का मार्ग रोके क्यों खड़े हो ?"

सुहोत्र ने कहा—"हम दोनों ही समान राजा हैं; छोटा राजा बड़े को मार्ग देता है अतः न तो ये मुझे देखकर मार्ग छोड़ते हैं, न मैं इनके लिये।"

इसपर मैंने सुहोत्र से कहा—"राजन्! महाराज शिवि चरित्र में तुम्हारी अपेक्षा अच्छे हैं।" यह सुनकर महाराज सुहोत्र

ने इनकी परिक्रमा की और बड़े आदर-सत्कारसे इन्हें मार्ग दिया। इसलिये मैं भी इनकी बराबरी नहीं कर, सकता। पुत्र को मारकर स्वय राँधकर, अतिथि का सत्कार करना और महलों मे आग लगा देने पर भी मन में रञ्चक मात्र भी विकार न आने देना, कितना भारी धैर्य का कार्य है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार देवर्षि भगवान् नारद जी ने भी महाराज शिवि के चरित्र और धैर्य की प्रशंसा की है। अब आप महाराज शिवि के अग्रिम वंश का वृत्तान्त श्रवण करें।"

छप्पय

भये चारि शिवि तनय पिता के सम तेजस्वी।
वृषादर्भ कैकेय सुवीर हु मद्र यशस्वी॥
नृपति तितिक्षु सुशील उशीनर नृप लघु भ्राता।
पुत्र रुशद्रथ भये हेम सुत तिनि सुख-दाता॥
हेम पुत्र सुतपा भये, सुतपा सुत बलि जग-विदित।
राज, पाट, धन, धान्य, पशु, सुख सब, किन्तु न एक सुत॥

अनुवंशीय बलिकी संतति

(७६७)

शिवेश्चत्वार एवासंस्तितिक्षोश्च रुशद्रथः ।
ततो हेमोऽथ सुतपा बलिः सुतपसोऽभवत् ॥
अङ्गवङ्ग कलिङ्गाद्याः सुह्मपुण्ड्रान्ध्र संज्ञिताः
जज्ञिरे दीर्घतमसो बलेः क्षेत्रे महीक्षितः ॥१

(श्रीभा० ९ स्क० २३ अ० ४,५ श्लो०)

छप्पय

भूपति बलि सुत बिना रहे मन महँ अति चिंतित ।
सूझै नहीं उपाय नृपति कूँ सुतहित समुचित ॥
गंगा तट पै बैठि बात नृप मन महँ आई ।
द्विज तैं सुत करवाहुं, नाव इक दई दिखाई ॥
दीर्घतमा तामें बँधे, बड़े तपस्वी अन्ध मुनि ।
नाव पकरि तट पै करी, भये मुदित मुनि नाम सुनि ॥

वंश का उच्छेद होता हो, तो धर्मपूर्वक काम भाव से रहित होकर द्विज द्वारा वंश-परम्परा को बनाये रखने की प्राचीन प्रथा थी। दोष भाव से होता है। एक ही कार्य है, यदि वह शुद्ध

१—श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज शिवि के तो चार पुत्र हुए। उशीनर के भाई तितिक्षु थे, उनके पुत्र रुशद्रथ हुए। उनके हेम, हेम के सुतपा और सुतपाके ही पुत्र बलि हुए। महाराज बलिने अपनी पत्नी के गर्भ से दीर्घतमा मुनि के द्वारा अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, सुह्म, पुण्ड्र और आन्ध्र—छः पुत्र उत्पन्न कराये।"

भाव से किया जाय, तो ऊपर से अनुचित सा भी दीखता हो, किंतु वह उचित ही है। यदि अशुद्ध भावसे किया जाय, तो उचित और उत्तम काम भी हेय है। तप श्रेष्ठ कार्य है, किन्तु दम्भ से, द्वेष से, प्राणियो को कष्ट देने को किया जाय, तो वह उत्तम कार्य होने पर भी अधम है। बल-पूर्वक दूसरो का धन छीनना निन्द्य काम है, किन्तु दिग्विजय मे यज्ञ के लिय दूसरे राजाओ पर चढाई करके, उनके धन को बल पूर्वक छीन लेना निन्दनीय नहीं कहा जा सकता। अतः सुख दु.ख मे भाव ही प्रधान कारण है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने उशीनर-सुत महाराज शिवि का चरित आप को सुनाया। यह मैं पीछे ही बता चुका हूँ, कि महाराज उशीनर के एक छोटे भाई थे, जिनका नाम तितिक्षु था। अब इनके वश को भी श्रवण करे। महाराज तितिक्षु के रुशद्रथ नाम के पुत्र हुए। रुशद्रथ के सुत हेम और हेम के सुत सुतपा हुए। इन्हीं महाभाग-सुतपा से समस्त धर्मों के ज्ञाताओं मे सर्व-श्रेष्ठ महाराज बलिका जन्म हुआ। महाराज की पत्नी का नाम सुदेष्णा था। सुदेष्णा परम रूपवती, सुकुमारी, पतिपरायणा और सती साध्वी रानी थी। राजा का उसके प्रति अत्यत ही अनुराग था। यद्यपि महाराज के कोई सन्तान नहीं थी, फिर भी उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया। जब महाराज को सन्तान की आशा जाती रही, तब उन्होंने महामुनि दीर्घतमासे अपने क्षेत्र में अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र, सुह्म और आन्ध्र-ये छः पुत्र उत्पन्न कराये। उनके क्षेत्र में और भी पुत्र हुए, जो ब्राह्मण हुए।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ये महामुनि दीर्घतमा कौन थे? महाराज बलि से इनकी भेट कहाँ हो गयी? कैसे उन्होंने बलि के क्षेत्रमे क्षत्रिय और ब्राह्मणों को उत्पन्न किया? कृपा करके इस कथा को हमें सुनावें।"

सूतजी बोले—"महाराज ! ऐसी कथाएँ आप मुझ से न पूछा करें, तो ही अच्छा है। ये ऋषि अपनी धुनि के बड़े पक्के होते हैं। इन्हें जो भी सूझ जाय, उसी पर अड जाते हैं, जो कह दें, वही धर्म हो जाता है। महाराज! ये तप के प्रभाव से सब कुछ कर सकते हैं। तपस्या में बडी सामर्थ्य है। इस बात को मैं पहले भी दुष्यन्त सुत भरत के प्रसङ्ग में बता चुका हूं। भगवान् अंगिरा के उतथ्य, बृहस्पति और संवर्तक—ये तीन पुत्र थे। महर्षि उतथ्य की पत्नी का नाम था ममता और बृहस्पतिजी की पत्नी का नाम था तारा। संवर्तक तो बृहस्पतिजी के कारण घर छोड़कर अवधूत ही हो गये थे। इन्हीं संवर्तक ने महाराज मरुत्त को यज्ञ कराया था। हाँ, तो महामुनि दीर्घतमा उतथ्य ऋषि के ही पुत्र थे। बृहस्पतिजी के शाप से, ये माता के उदर से अन्धे ही उत्पन्न हुए थे। उत्पन्न होते ही ये संस्कार-वश वेद-वेदाङ्ग सभी कुछ पढ गये। जब ये विवाह-योग्य हुए, तब उतथ्य मुनि को इनके विवाह की चिन्ता हुई, किन्तु जन्मान्ध को अपनी कन्या दे कौन ? यही एक कठिन समस्या थी। उसी समय एक ब्राह्मण की प्रद्वेषी नामवाली युवती पुत्री थी। वैसे तो वह बडी रूपवती थी, किन्तु स्वभाव की बडी चिड़चिडी थी। कोई ब्राह्मण-कुमार उसके स्वभाव के कारण उससे विवाह करना नहीं चाहता था। उसने सोचा—"चलो' दीर्घतमा को ही अपना पति बना लो। पढा लिखा विद्वान् तो है ही। कोई नेत्रवाला तो बात-बात में त्रुटि निकालेगा। अंधे को जहाँ बिठाओ, बैठ जायगा, जहाँ लिटाओ, लेट जायगा।" यही सब सोच समझ कर प्रद्वेषी ने दीर्घतमा को अपना पति बना लिया।

दीर्घतमा अन्धे होने पर भी बड़े रतिप्रिय थे। सुरभि के पुत्र वृषभ से इन्होंने गोधर्म की भी शिक्षा प्राप्त कर ली थी।

शील-सकोच आँखो मे ही होता है। जिसके आँखें ही नहीं, वह शील सकोच क्या करे। अतः वे आश्रम मे सबके सामने गोधर्म का आचरण करने लगे। आश्रम के आस पास रहने वाले मुनियो ने कहा—"यह दीर्घतमा तो लोक मर्यादा कुछ भी नहीं मानता, अतः इसका समाज से बहिष्कार कर देना चाहिये।"—यह सोचकर मुनियों ने उन्हें छोड दिया।

इनकी जो स्त्री थी, वह बडी कर्कशा थी जब तक उसके पुत्र नहीं हुए, तब तक तो वह इनके साथ रही, पीछे बोली—"देखोजी प्रज्ञा चक्षु महाराज! सुन लो मेरी दो टूक बात, अब मेरी तुम्हारी निभने की नहीं!"

दीर्घतमा मुनि ने पूछा—"क्यों नहीं निभने की? मुझ मे क्या त्रुटि है?"

गरज कर प्रद्वेषी बोली—"तुम मे सब त्रुटि ही त्रुटि तो हैं। पुरुष को स्त्री का भर्ता कहा है, क्योंकि वह स्त्री का तथा उससे उत्पन्न बच्चों का भरण पोषण करता है। तुम्हे करना तो चाहिये मेरा भरण पोषण, किन्तु उलटे मुझे ही तुम्हारा तथा तुम्हारे इतने पुत्रों का भरण पोषण करना पडता है। पालन करने से ही पुरुष की 'पति' सज्ञा है। तुम न मेरा पालन करते हो न भरण। अतः तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, वहाँ चले जाओ। मेरी जहाँ इच्छा होगी, वहाँ मैं चली जाऊँगी।"

दीर्घतमा ने कहा—"आज, तू एक काम कर। मुझे तू किसी धनी क्षत्रिय के समीप ले चल, उससे मैं बहुत सा धन माँग कर तुझे दूँगा।"

व्यंग्य के स्वर मे हाथ घुमाती और सैन मटकाती हुई प्रद्वेषी बोली—"मुझे तुम्हारा धन फन नहीं चाहिये। नंदिन नेंदिनी की भाँति तुम्हारी लाठी पकडे पकडे मैं किसी राजा की सभा में

भीख माँगने नहीं जाना चाहती। मेरी तुम्हारी अब नहीं पट सकती। जहाँ तुम्हारे सींग समायँ, तहाँ तुम जाओ, जहाँ मेरी इच्छा होगी, मैं जाऊँगी।"

दीर्घतमा कुछ कम तो थे ही नहीं, वे भी तपस्वी मुनि थे। उन्हे भी क्रोध आ गया। वे बोले—"तू मुझे छोड कर जा कैसे सकती है ?"

प्रद्वेषी ने कहा—"क्या तुमने मुझे मोल ले लिया है ? मेरी जहाँ इच्छा होगी जाऊँगी।"

मुनि दीर्घतमा बोले—"तुझे अपने रूप का बडा अभिमान है। तू सोचती होगी, मैं किसी दूसरे के साथ रह जाऊँगी। ले, मैं आज से ऐसा कठोर नियम बनाये देता हूँ, कि द्विजों की पत्नियाँ किसी भी दशा में दूसरा पति न कर सकेंगी। उनका पति चाहे जीवित हो या नहीं, उसीकी ही होकर उन्हे रहना पड़ेगा। जो ऐसा न करके अन्यथा आचरण करेंगी, उनकी संसार में निन्दा होगी।"

प्रद्वेषी का क्रोध सीमोल्लंघन कर गया। वह अपने युवक पुत्रों से बोली—"बेटों! इस निठल्ले अंधे अपने बाप को तुम पकडकर गंगाजी मे छोड आओ।"

मुनि-पुत्र भी उस अन्धे के चिडचिडे स्वभाव से खिन्न रहते थे, अतः माता के कहने से वे उन्हें पकड़ ले गये। कैसे भी हों, पिता ही ठहरे। अतः गंगाजी में उन्हें डुबाया तो नहीं, किन्तु एक छोटी-सी नौका मे इन्हें बाँधकर श्रावण-भादों की भरी गंगा जी मे उन्हें निराधार छोड दिया और कह दिया—"पिताजी! अब जहाँ आपका भाग्य हो, तहाँ चले जाइये।"

मुनि अन्धे थे, ज्ञानी थे, बिना कुछ बोले चुपचाप नौका में पडे रहे। नौका बहते-बहते काशी से भी और बहुत दूर बलिया

के समीप पहुँची। प्रातःकाल हो गया, मुनि कुछ बोले ही नहीं। उसी समय महाराज सुतपा के सुत बलि वहाँ गंगा-स्नान के लिए आये। मुनिकी नौका राजा के समीप ही हो कर निकली। राजाने देखा, नौका पर मल्लाह नहीं हैं। कोई आदमी उस पर बँधा पडा है। तुरन्त ही उन्होंने नौका पकड ली, बँधे हुए मुनि को खोला और पूछा—"ब्रह्मन्! आप कौन हैं? इस नौका मे आप को किसने बाँध दिया है?"

मुनि बोले—"राजन्! मैं महर्षि अंगिरा का पौत्र और महामुनि उतथ्य का पुत्र हूं। दीर्घतमा मेरा नाम है। मेरे अज्ञानी पुत्रो ने अपनी माँ के कहने से मुझे अंधा समझकर मेरा तिरस्कार किया है और मुझे इस नौका मे बाँधकर वहा दिया है।"

महामुनि दीर्घतमा का परिचय पाकर राजा को बडी प्रसन्नता हुई और वे विनीत भाव से बोले—"ब्रह्मन्! आप पुरानी बातों को भूल जायँ। मैं आपका सेवक हूँ, आप इस राज्य को अपना ही समझें और यहाँ सुख-पूर्वक निवास करें।"

मुनि तो यह चाहते ही थे। राजा की प्रार्थना उन्होंने स्वीकार कर ली और वे सुख-पूर्वक महाराज बलिके यहाँ रहने लगे। राजा को जब पता चला कि मुनि रति कर्म मे बडे दक्ष हैं, तो उन्होंने प्रार्थना की—"मुनिवर! मेरे लिये आप सन्तान उत्पन्न करें।"

मुनि को इसमे आपत्ति ही क्या होनी थी? वे बोले—"अच्छी बात है राजन्! मैं तो इस विद्या मे दक्ष हूँ। सुरभि-पुत्र से मैंने तो गोधर्म की भी शिक्षा प्राप्त की है।"

राजा बोले—"महाराज! कृपा करके गोधर्म का यहाँ आचरण न करें मनुष्य धर्म ही ठीक है। मेरी रानी में आप

गर्भाधान करें।" इस प्रकार मुनि की स्वीकृति होने पर राजा ने अपनी पतिव्रता पत्नी से कहा—"वंश की वृद्धि के लिये तुम महामुनि दीर्घतमा के निकट जाओ।"

रानी ने "हाँ" तो कह दिया, किन्तु उनकी रुचि न हुई। उन्होंने देखा, एक तो मुनि बूढ़े हैं, दूसरे अंधे। उनका शरीर काला कुरूप है, अतः उसने अपनी एक दासी को मुनि के समीप भेज दिया। मुनिवर दीर्घतमा ने उससे कक्षीवान् आदि कई पुत्र उत्पन्न किये। उन पुत्रों को देखकर राजा ने मुनि से कहा—"ब्रह्मन्! आप इन मेरे पुत्रों को मुझे दें।"

मुनि ने कहा—"राजन्! ये तुम्हारे पुत्र नहीं हैं। मेरे हैं, मैंने अपने लिये इनको उत्पन्न किया है। तुम्हारी रानी तो अन्धा समझकर मेरे समीप आई ही नहीं।"

यह सुनकर राजा ने समझा बुझाकर महारानी सुदेष्णा को किसी प्रकार सहमत किया। फिर मुनि ने रानी के गर्भ से परम यशस्वी अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र, सुह्म और आन्ध्र—ये छः परम यशस्वी पुत्र उत्पन्न किये। गर्भाधान के समय एक ऐसी घटना हो गई, कि मुनि ने इन पुत्रों को क्षत्रियपने से भ्रष्ट कर दिया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ऐसी कौन-सी घटना हो गई?"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज! जाने भी दें। आप साधु महात्मा होकर इन बातों से क्या लेंगे? इन मुनियों की माया विचित्र है। ये 'क्षणे रुष्टा क्षणे तुष्टा' स्वभाव वाले होते हैं। इतना ही समझ लें कि महाराज बलि के ये छः क्षेत्रज पुत्र हुए। इन सबने अपने अपने नाम से देश बसाये। बड़े अङ्ग तो अङ्ग देश (बिहार) के राजा हुए। दूसरे वङ्ग वङ्ग देश के, तीसरे कलिङ्ग ने कलिङ्ग देश का शासन-भार संभाला।

पुण्ड्र, सुह्म और आन्ध्र ने भी अपने अपने नाम से देश प्रसिद्ध किये, जो देश अब भी पूर्व दिशा मे उन्हीं के नाम से विख्यात हैं। ये सब राजा विशुद्ध क्षत्रिय न होकर एक विशिष्ट ही जाति-वाले हुए। अब यदि मैं इन सब के वंशों का वर्णन करूँ, तो कथा बहुत बढ जायगी। अतः महाराज बलि के सबसे बड़े पुत्र अंग की वंशावली कहकर महाराज अनु के वंश की कथा समाप्त करूँगा। फिर महाराज ययाति के तृतीय पुत्र द्रुह्यु के वंश को कहूगा।"

शौनक जी बोले—"हॉ, सूत जी! अब आप शीघ्रता कीजिये। हमे तो श्री कृष्ण चरित सुनने की चट पटी लगी हुई है। हाँ, तो अंग के पुत्र कौन हुए?"

सूतजी बोले—"सुनिये महाराज! बलि के पुत्र खनपान, उनके दिविरथ, उनके धर्मरथ, धर्मरथ के पुत्र चित्ररथ हुए, जिनका दूसरा नाम रोमपाद भी था। उनके कोई सन्तान नहीं थी। अतः अयोध्याधिप महाराज दशरथ ने अपनी शान्ता नाम्नी कन्या राजा को दे दी। राजा ने उसका विवाह ऋष्यश्रृङ्ग से कर दिया। बड़े छल-बल से राजा ने मुनि पुत्र को बुलाया था। उनके चतुरङ्ग पुत्र हुए। उनके

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! अब इतनी शीघ्रता भी मत करें। महाराज रोमपाद ने मुनि पुत्र ऋष्यश्रृङ्ग को कैसे छल-बल से बुलाया? महाराज दशरथ ने अपनी कन्या क्यों दी? इन प्रसङ्गों को स्पष्ट करके सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज! मेरा हर प्रकार मरण है। विस्तार करता हूँ, तो आप कहते हैं, संक्षेप में सुनाओ, और संक्षेप करता हू, तो आप कहने लगते हैं—घास सी काट रहे हो। कथा वाचक का काम बडा बुरा है। उसे श्रोता के रुख को हर समय

देखना पड़ता है। गृहस्थ हो, तो उसके मन की बात जानी भी जाय। इन बाबाजियों का पता ही नहीं चलता कि ये क्या सुनना चाहते हैं। कभी तो एक शब्द पर घण्टों अड़ जायँगे, कभी आवश्यक कथा को कहेंगे—चलो, चलो आगे। महामुनि ऋष्यशृङ्ग की कथा अत्यन्त ही रोचक सरस, सुन्दर और शिक्षाप्रद है। आप कहिये तो वही सुनाऊँ, नहीं, वंशावली कहकर उसे समाप्त करूँ।"

शौनकजी बोले—"नहीं सूतजी! इतनी शीघ्रता की आवश्यकता नहीं। मुनिवर ऋष्यशृङ्ग की कथा हमें अब सुनावें। राजा उन्हें छल-बल से किस प्रकार वन से लाये और क्यों अपनी प्यारी, दुलारी, सुकुमारी, परम सुन्दरी पुत्री का विवाह वनवासी मुनि के साथ किया?"

यह सुनकर सूत जी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! अब मैं आपको इन सब बातों को सुनाता हूं, आप एकाग्र चित्त से इसे सुनें।

छप्पय

दीर्घतमा तैं भये नृपति सुत क्षेत्रज सुखकर।
अंग बंग अरु कलिँग सुह्म अरु पुण्ड्र अन्ध्रवर॥
निज निज नामनि देश पूर्व महँ थापित कीन्हें।
दासी सुत मुनि दीर्घतमा निज सुत करि लीन्हें॥
अङ्ग राज खनपान सुत, दिविरथ सुत तिनके अधिप।
तिनके सुत नृप धरमरथ, पुत्र चित्ररथ भये नृप॥

महाराज रोमपाद

(७९८)

सुतो धर्मरथो यस्य जज्ञे चित्ररथोऽप्रजाः।
रोमपाद इति ख्यातस्तस्मै दशरथः सखा ॥१

(श्रीभा० ९ स्क० २३ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

रोमपाद हू नाम न तिनके कोई सन्तति।
शान्ता कन्या दई मित्र लखि दशरथ भूपति॥
विप्रनि को अपमान करयो नहिं सुरपति बरसें।
भीषन परयो अकाल, अन्न बिनु सबजन तरसें॥
भये चित्ररथ दुखित अति, सम्मति मन्त्रिनि तें करी।
कौन पाप तें घोर यह, विपदा हम सब पै परी॥

अधिक उपकरणों से धन-ऐश्वर्य नहीं बढ़ता, जिसकी जैसी भावना होती है, वैसा ही फल मिलता है। एक प्राचीन कहानी है। कोई राजा आखेट के निमित्त वन में गया। वहाँ उसे बड़ी प्यास लगी। सेवकों ने बताया—"महाराज! यहाँ से समीप ही राज्य का एक बड़ा भारी अनारों का बगीचा है, वहीं पधारें। इतना सुनते ही राजा वहाँ गये। मन्त्री भी साथ में थे। देखा बाग बहुत बड़ा है। एक सहस्र माली उसमें काम करते हैं।

१—श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! दिविरथ के पुत्र धर्मरथ हुए। उनके चित्ररथ हुए, जो रोमपाद नाम से भी विख्यात थे। उनके कोई सन्तान नहीं थी। उनके मित्र अयोध्याधिप महाराज दशरथ थे।"

राजा को अत्यधिक पिपासा लगी हुई थी। उन्होंने अति शीघ्र जल माँगा। तुरन्त ही एक माली ने समीप के पेड़ से एक अनार तोड़कर उसका रस निचोड़ा। एक पात्र भर गया, राजा ने पीया। रस बड़ा मधुर था। राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। अब राजा ने पूछना आरम्भ किया कि यहाँ के फल कहाँ जाते हैं मालियों ने कहा—"महाराज, यहाँ से राज्य के मन्दिर में जाते हैं, भोग लगवाकर ब्राह्मणों के यहाँ तथा और सबके यहाँ प्रसाद रूप में भेज दिये जाते हैं ?"

राजा ने पूछा—"कितने माली यहाँ काम करते हैं ?"

मालियों ने कहा—"महाराज ! हम सब एक सहस्र हैं ?"

राजा ने फिर पूछा—"सब पेड़ कितने हैं।" उत्तर मिला एक सहस्र ही पेड़ हैं। एक पेड़ की देख-रेख एक माली करता है।"

राजा ने कहा—"एक पेड़ पर एक माली की क्या आवश्यकता है ? एक माली भली-भाँति १० पेड़ों की देख-रेख कर सकता है। नौ सौ को अभी निकाल दो।" मन्त्री ने उसी समय नौ सौ को निकाल दिया। राजा चले गये।

कुछ दिन के पश्चात् राजा फिर बाग में गये। फिर उन्होंने पीने को रस माँगा। वही बूढ़ा माली अबके १० अनार तोड़कर लाया। उनका रस निचोड़ा, तो भी पात्र नहीं भरा। राजा ने आश्चर्य-चकित होकर पूछा—"पहले तो एक ही अनार में पात्र भर गया था, अब १० फलों के रस में भी पात्र नहीं भरा ! यह क्या बात है ?" बूढ़े माली ने कहा—"प्रभो ! उष्णता से रस सूख गया है।" राजा ने कहा—"अभी तो उतनी गरमी पड़ती नहीं।" माली ने कहा—"प्रभो ! अपराध क्षमा हो। सूर्य की गरमी से रस नहीं सूखा है। आपने जो नौ सौ मालियों को उनकी आजीविका से पृथक् कर दिया है, उन सबके बाल-बच्चों

की आह से यह रस सूखा है।" राजा को अपनी भूल मालूम हुई और तुरन्त उनको पुनः अपने-अपने कामों पर नियुक्त कर दिया।

यह कथा तो पुरानी है, किन्तु यह प्रत्यक्ष देखा है, कि जो पाँच-पाँच, सात-सात गाँव के राजा थे, उनके धन की भी कोई गणना नहीं होती थी। इतना दान पुण्य करते थे, कि लोग उनके धन की थाह भी नहीं पा सकते थे। आज १०० गावों के भूमिपति को भी एक सीधा देना दुर्लभ हो गया है। वसुन्धरा वही है, किन्तु अब यह वसु-धन-नहीं देती। बड़े-बड़े राष्ट्र आज दिवालिया हो रहे हैं। इसका कारण यही है कि उन्हें भगवान् का आश्रय नहीं, धर्म पर निष्ठा नहीं। अपने कृत्रिम साधनों में, अपने ही कार्यों मे,-उन्हे विश्वास है। आस्तिक बुद्धि हो, देवता; द्विज, गुरु और भगवान् मे विश्वास रख कर कार्य किया जाय, तो यह पृथ्वी सुवर्ण उगलती है। कामधेनु बनकर सभी इच्छाओं को पूर्ण करती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने अनुवंशीय महाराज बलि के वंश को कहते हुए महाराज चित्ररथ तक, जिनका दूसरा नाम रोमपाद भी था, वर्णन किया। अब मैं महाराज रोमपाद की कथा कहता हूं। इन्हीं के प्रसंग मे महर्षि ऋष्यश्रृङ्ग की कथा भी आ जायगी।"

महाराज रोमपाद अङ्ग देश के राजा थे। वे धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करते थे। अंग देश बड़ा ही समृद्धिशाली देश माना जाता है। राजा धर्मात्मा थे, उनका अपार ऐश्वर्य था, धन-रत्नों से सदा उनका भण्डार भरा रहता था, मंत्री उनके अनुकूल और न्यायप्रिय थे। प्रजा उन्हें पिता के समान मानती थी। वे भी उन सब का विना भेद-भाव के पुत्र के समान पालन करते थे। राजा को सभी प्रकार के सुख प्राप्त थे। किन्तु; उनके

पुत्र नहीं था। इसलिये वे दुखी से रहते थे। ययाति के शा से महामुनि दीर्घतमा के क्रोध से इनका शुद्ध क्षत्रियों से सम्बन्ध नहीं था। फिर भी राजा तो ये थे ही। इनकी 'सूत' संज्ञा हो ग थी। अवध के राज्य और इनके राज्य की सीमा मिली हुई थी उन दिनों अवध मे महाराज दशरथ राज्य करते थे। महाराज दशरथ से इनकी बडी मैत्री थी और परस्पर अत्यधिक प्रेम था। महाराज दशरथ के भी कोई पुत्र नहीं था। उन्होंने अपने मित्र इन सूतराज महाराज रोमपाद से कहा—"अब हमारे जो भी सन्तान होगी, उसे हम तुम्हें दे देंगे।"

संयोग की बात कि महाराज दशरथ की उपपत्नीसे एक कन्या हुई। यह कन्या अत्यन्त ही सुन्दरी थी। देव-कन्यायें भी उसके रूप को देखकर लजा जाती थीं। महाराज ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वह कन्या महाराज रोमपाद चित्ररथ को दे दी। महा राज के महलों मे वह सुन्दरी कन्या कुमुदिनी की भाँति बढने लगी। राजकुमारी अत्यन्त ही सुकुमारी तथा शान्त थी, अतः माता पिता ने उसका नाम शान्ता रखा। शनैः शनैः शान्ता ने युवावस्था में पदार्पण किया। महाराज उसके अनुरूप सुयोग्य वर की खोज करने लगे।

उसी समय एक दुर्घटना हो गयी। राजा लोभवश ब्राह्मणों से झूठ बोले। उनकी धर्म-भावना शिथिल हो गयी। ब्राह्मण दुःखित होकर उनके यहाँ से चले गये। इस अपराध के कारण दैव ने वर्षा नहीं की। सम्पूर्ण राज्य मे अकाल पड गया। वृष्टि न होने के कारण पेड-पत्ते सूख गये। पृथ्वी ने अन्न देना बन्द कर दिया। राजा को बडी चिन्ता हुई। उन्होंने अपने मन्त्रियों तथा वेदज्ञ ब्राह्मणों को बुलाकर पूछा—"देश मे अनावृष्टि अति वृष्टि शासक के पाप के ही कारण होती है। मुझसे ऐसा कौन

सा पाप बन गया है, जिससे मेरे राज्य में वृष्टि नहीं हो रही है।"

इस पर ब्राह्मणों ने कहा—"राजन्! आपसे लोभ वश ब्राह्मणों के प्रति अपराध हो गया है। आप सच्चे हृदय से अपने पाप का प्रायश्चित्त करें, ब्राह्मणों से क्षमा याचना करें, तो इन्द्र आपके राज्य में वर्षा करेंगे। यदि महामुनि शृङ्गी आपके राज्य में आ जायें, तो निश्चय ही आपके राज्य में उनके आते ही वर्षा हो जाय।"

राजा ने पूछा—"ब्राह्मणो! मुनिवर ऋष्यशृङ्ग में ऐसी कौन सी विशेषता है, कि उनके आते ही वर्षा हो जायगी?"

ब्राह्मणों ने कहा—"राजन्! इस समय ऋष्यशृङ्ग मुनि की तपस्या सर्वोत्कृष्ट है। उन्होंने आज तक किसी भी स्त्री के दर्शन तक नहीं किये। वे गंगाजल के समान विशुद्ध हैं। संसारी विषयों को वे जानते तक नहीं। उन्हें आप जैसे हो, वैसे अपने राज्य में बुला लें और अपनी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी कन्या का विवाह उनके साथ कर दें, तो आपका बड़ा अभ्युदय हो। वर्षा तो उनके आते ही हो जायगी। यही नहीं आपके पुत्र भी हो जायगा और कीर्ति दिग्दिगन्तों में छा जायगी।"

यह सुनकर राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने अपने अपराध के लिये हृदय से पश्चात्ताप किया और ब्राह्मणों के पैरों पर पड़कर उनसे क्षमा याचना की। ब्राह्मण जब प्रसन्न हो गये, तब सबके सब लौट आये। अब राजा को इसी बात की बड़ी चिन्ता रहने लगी कि ऋष्यशृङ्ग मुनि मेरे महलों में कैसे आवें।

एकवार उन्होंने बड़े-बड़े विद्वानों की एक सभा की। उसमें यही प्रस्ताव रखा कि "मुनिवर ऋष्यशृङ्ग को किन उपायों से अपने राज्य में लाया जाय।" इस पर किसी ने कुछ सम्मति दी, किसी ने कुछ। बहुत से लोगों ने तो कहा—"उनका यहाँ आना

असम्भव है। उनके पिता उन्हें कहीं भी जाने नहीं देते। किसी स्त्री को तो आज तक उन्होंने देखा ही नहीं। उनके पिता घोर जंगल में रहते हैं। वे अपने पुत्र को कभी भी स्त्री दर्शन नहीं करने देते। यदि वे किसी प्रकार स्त्री को देख लें, तब तो चक्कर में फँस जायँ।"

अब राजा की समझ में बात बैठ गई, कि इस विषय में बड़े बड़े विद्वानों की आवश्यकता नहीं, न शास्त्रज्ञ तथा नीति निपुण गुणी ही इस उलझी हुई गुत्थी को सुलझा सकते हैं। इस काम को तो कामप्रवीणा, मनोहारिणी कामिनी ही कर सकती हैं।" यह सोचकर उन्होंने विद्वानों को तो विदा किया और बड़ी सुन्दरी युवती, रूप गर्वीली वारांगनाओं को बुलाया। उनके सम्मुख उन्होंने अपना प्रस्ताव रखा। वे सब सुनकर बड़ी भयभीत हुईं और हाथ जोड़कर बोलीं—"अन्नदाता! हमें क्षमा किया जाय। आप हमें और चाहे जो कठिन से कठिन कार्य बता दें, चाहे और जो दण्ड देना चाहे दे दें, किन्तु ऋष्यश्रृङ्ग के पिता विभाण्डक मुनि के समीप हमें न भेजें। हमने उन उग्र स्वभाव के महर्षि की ख्याति सुनी है। हम उनके तप तेज से भी परिचित हैं। हम यह भी जानती हैं, कि वे स्त्रियों से बहुत चिढ़ते हैं। अपने पुत्र को उन्होंने आज तक कोई स्त्री नहीं देखने दी। वे इस सम्बन्ध में सतर्क रहते हैं। यदि उन्हें हमारे काम का तनिक भी पता लग गया, तो वे हमें वहीं शाप देकर भस्म कर देंगे।"

जब सभी ने इस काम में असमर्थता प्रकट की, तब उनमें से एक बूढ़ी वेश्या अपनी आँखों को नचाती हुई और कृत्रिम काले बालों पर हाथ फेरती हुई बोली—"महाराज! मुझे भरपूर पारितोषिक मिले, तो मैं यह कार्य कर सकती हूँ।"

राजा ने कहा—"तू मुनि-पुत्र को यहाँ ले आ। मैं तुझे यथेष्ट धन दूँगा।"

उसने कहा—"अच्छी बात है, महाराज! मैं ऋषि पुत्र को अवश्य यहाँ लाऊँगी। मुझे एक बहुत सुन्दर नौका मँगवा दीजिये। राजा ने एक बहुत बडी अत्यन्त सुन्दर नौका मँगवा दी। बूढी वेश्या ने उसे अत्यन्त कौशल के साथ सजाया। उसमें अच्छे अच्छे पुष्प और फूलोवाले गमले सजाये। लताओं के वितान बनाये, भाँति भाँति के चित्र बनाये। उस वेश्या की एक अत्यन्त सुन्दरी षोडशवर्षीया कन्या थी। वह गाने-बजाने तथा नाचने में अत्यन्त ही निपुण थी। उसके समान सुन्दरी कोई भी वेश्या नहीं थी। अपनी उस लडकी के साथ पाँच-सात और वेश्याओं को लेकर आवश्यक सामान और सहयोगियों के साथ वह मुनि पुत्र को फँसाने चल दी।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ये ऋष्यशृङ्ग महामुनि किनके पुत्र थे। आपने कहा, कि उन्होंने जीवनभर कभी किसी स्त्री को देखा ही नहीं। सो यह कैसे सम्भव हो सकता है? पुरुष का जन्म तो स्त्री के ही उदर से होता है। फिर वह बिना स्त्री देखे कैसे रह सकता है? माता का दूध तो उन्होंने पिया ही होगा?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! ऋष्यशृङ्ग महामुनि विभाण्डक के पुत्र थे। वे स्त्री के गर्भ से उत्पन्न नहीं हुए थे। हरिणी के उदर से उन्होंने जन्म लिया था। इनके पिता सदा इसी चेष्टा में रहते थे, कि मेरे पुत्र को कभी भी स्त्री के दर्शन न हों। ये संसारी विषय-भोगों से सदा पृथक् ही रहे। किन्तु; महाराज! ऐसा कैसे सम्भव हो सकता है? स्त्री पुरुषों में परस्पर स्वाभाविक आकर्षण है। यह मनुष्य-कृत आकर्षण नहीं

है, है देव-श्रत। ब्रह्माजी ने पहले पहल पुरुषों को ही पैदा किया। तब मन से ही सृष्टि होती थी। ब्रह्माजी ने बहुत से पुत्र पैदा किये। उन्होंने सबको आज्ञा दी—"तुम सब लोग सृष्टि की वृद्धि करो।" किन्तु; बिना घात कौन झंझट में पड़े? सृष्टि-वृद्धि में न किसी को रुचि ही होती, न कोई इसे अच्छा; ही समझता। सब बैठकर राम राम जपते। ब्रह्माजी सबको पुचकारते, उपदेश देते, पितृ भक्ति की शिक्षा देते, किन्तु सब व्यर्थ! फिर वे बड़ी चिन्ता में पड गये, भगवान् की शरण में गये। भगवान् ने अपनी काया से एक ब्रह्मा के दो ब्रह्मा बना दिये। उनमें एक भाग से स्त्री हुई। बस, उसे देखते ही सबकी विवाह करने की इच्छा हो गई। बिना कहे-सुने ही सृष्टि बढने लगी। इसलिये एक से दो होने की प्राणिमात्र की स्वाभाविक इच्छा है। कोई भगवत् कृपासे विरला ही भले इस आकर्षण से बच जाय। नहीं तो प्राणिमात्र में यह आकर्षण होता ही है। जब आकर्षण हो जाता है, तब ब्रह्मा भी उसे रोकने में असमर्थ हो जाते हैं। एक नारायण ऋषि को छोड़कर इस आकर्षण से कौन बचा है? नर का भी चित्त चञ्चल हो गया था। जिस पर गुरु और हरि की पूर्ण कृपा हो और बचाने की उनकी इच्छा हो, वही बच सकता है। नहीं तो, फिर मुनियो! जो है, सोई है। अब आप से क्या कहें? एकान्त में युवक को देखकर युवती और युवती को देखकर युवक अपने आपे को भूल जाते हैं। सभी प्रतिज्ञायें शिथिल पड जाती हैं।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"हाँ, तो सूतजी! अब आगे की कथा सुनाइये। मुनिवर ऋष्यशृङ्ग का जन्म हरिणी के उदर से कैसे हुआ? हरिणी से पुरुष बालक का उत्पन्न होना तो असम्भव है? फिर वे विभाण्डक मुनि के पुत्र कैसे कहलाये?

उस बूढ़ी वेश्या ने वन में जाकर क्या किया? इन सब बातों को सुनने के लिये हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है।"

इस पर सूतजी ने कहा—"महाराज! असम्भव संसार में कुछ भी नहीं है। जो क्षुद्र बुद्धि के लोग होते हैं, वे ही भगवान् की माया की शक्ति को न समझकर, जो बात उनकी बुद्धि में नहीं आती, उसे असम्भव कह देते हैं। भगवान् की माया में सब कुछ सम्भव है। गोकर्ण जी गो के ही पेट से हुए। व्यास जी की माता सत्यवती मछली के ही उदर से हुई थीं। कृप और कृपी सरकंडे में ही उत्पन्न होगये थे। अगस्त्य जी तथा वशिष्ठ जी घड़े से उत्पन्न हुए। द्रोणाचार्य यज्ञ के एक द्रोण नामक पात्र से ही उत्पन्न हुए। एक नहीं, ऐसे असख्य उदाहरण हैं और अब भी ऐसे यदा-कदा देखने मे आते हैं। अमोघ वीर्य ऋषियों का वीर्य कभी भी व्यर्थ नहीं जाता। वह जहाँ भी पड़ेगा, वहीं सार्थक होगा। अच्छी बात है, मैं आप को महामुनि ऋष्यशृङ्ग की उत्पत्ति की कथा सुनाकर फिर उस वेश्या की माया को सुनाऊँगा। आप इस सरस, शिक्षाप्रद उपाख्यान को सावधान होकर सुनने की कृपा करें।"

छप्पय

बोले द्विज—यदि ऋष्यशृङ्ग मुनिवर पुर आवें।
तो सुरपति अविलम्ब राज महँ जल बरसावें॥
मुनि आगमन उपाय बतायो सब मिलि मंत्रिनि।
ऋषि कुमार तप निरत न निरखी नारी नयननि॥
यदि प्रमदा को मुख कमल, निरखें तो फँसि जायँगे।
रूपाकर्षण डोरि महँ, बँधे, विवश ह्वै आयँगे॥

ऋष्यशृङ्ग मुनि और वेश्या–पुत्री

(७६६)

शान्तां स्वकन्यां प्रायच्छदृष्यशृङ्ग उवाह ताम् ।
देवेऽवर्षति यं रामा आनिन्युर्हरिणीसुतम् ॥१

(श्रीभा० ९ स्क० २३ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

मानी सम्मति नृपति बार वनिता बुलवाई ।
मुनि मोहन की बात सुनी सबई घबराई ॥
बोली वेश्या वृद्द—प्रभो ! यदि आज्ञा पाऊँ ।
तो छल-बल करि ऋष्यशृङ्ग मुनिवर कूँ लाऊँ ॥
सब सामग्री सौंपि नृप, वेश्या कूँ आयसु दई ।
ठगिनी तनया दास सँग, चढि नौका पै चलि दई ॥

अज्ञान में त्याग नहीं । कोई कहे, हम संसारी विषयों से आँख मींच लेंगे, तो वे बलपूर्वक हमारे ऊपर कैसे चढ़ जायँगे । यह तो सत्य है, कि तुम बाहर से विषयों को न देखोगे, किन्तु भीतर जो विषयों की संसार भोग की वासना भरी है, उसे कैसे निकाल सकते हो ? जब तक मन निर्विषय न हो, भोगों की वासना क्षय न हो जाय, तब तक कितनी भी आँखें मींचे रहो, छुटकारा

१—श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! महाराज रोमपाद को उनके सखा महाराज दशरथ ने अपनी शान्ता नाम्नी कन्या दी, जिसे ऋष्यशृङ्ग ने विवाहा था, जिन हरिणी-सुत ऋष्यशृङ्ग को देवके न बरसने पर वेश्यायें लाई थीं ।"

नहीं। रहोगे तो भूतों के बने संसार में ही ? महामुनि सौभरि ने सोचा, 'बाहर रहने से दृष्टि चंचल होती है, चित्त इधर-उधर भटकता है। मैं जल में बूड़कर समाधि लगाऊँगा। वहाँ कोई न शब्द सुनाई देगा, न आकर्षक रूप ही देखने को मिलेगा। यही सोचकर उन्होंने यमुनाजी के जल के भीतर समाधि लगाई। समाधि का भी तो कभी-न-कभी अवसान होता ही है। एक दिन ज्योंही समाधि खुली, दृष्टि सहसा एक मगर पर पड़ी। उसे अपनी स्त्री तथा बच्चों के साथ विहार करते देखकर गृहस्थ बनने की वासना मुनि के भी मन में जागृत हो उठी। वे तुरन्त जल से निकले और पचास विवाह किये, पाँच हजार पुत्र पैदा किये। सारांश यही है, कि भीतर वासना है, तो वह कभी-न कभी प्रकट होगी ही। संसार में रहकर कभी-न-कभी तो विषयों से संसर्ग हो ही जायगा। ऊपर से आँख बन्द करना वैसा ही है, जैसा कि शुतुरमुर्ग का हाथ में धनुष बाण लिये, आखेट-प्रिय पुरुष को देखकर, अपने मुख को बालू में छिपा लेना। वह सोचता है—"मैं इसे देखूँगा ही नहीं।" किन्तु उसे यह पता नहीं, कि तू न देखेगा, तो वह तो तुझे देख ही रहा है। बहुत से लोग अभिमान-वश कहते हैं, मैं इसकी देख-रेख करूँगा, मैं इसे विचलित न होने दूँगा।" अरे, भैया! दूसरों का ठेका तो पीछे लेना, पहले अपने को तो सम्भालो। जिसने स्वयं मन को वश में नहीं किया, जो अवसर पाकर स्वयं फिसल जाता है, वह दूसरों का उत्तर-दायित्व कैसे ले सकता है ? यह निर्विवाद बात है, कि निवृत्ति-मार्ग सर्वश्रेष्ठ है। पहले कपड़े में कीच लगाना, फिर उसे खार से धोकर उज्ज्वल करना, कोई बुद्धिमानी की बात तो है नहीं। श्रेष्ठ बात तो यही है, कि पहले कीच लगने ही न दें। किन्तु जब हमें कीच के मार्ग से जाना ही है, कीच लगे बिना निस्तार नहीं, तो

विवशता है। इसी लिये ऋषियों ने प्रवृत्ति-मार्ग को सुरक्षित किला बताया है। पहले गृहस्थी मे रहकर विषयों का अनुभव करे। फिर शनैः शनैः उससे उपराम हो जाय। पहले उनकी अनित्यता और क्षण-भंगुरता का अनुभव करे, पीछे सब को छोड़ कर विरक्त हो जाय। इसी का नाम क्रम मार्ग है। यही राज पथ है, यही विघ्न-बाधाओं से रहित 'पन्था' है। जो विषयों का बिना अनुभव किये क्षणिक आवेश मे आकर या किसी के द्वारा उत्तेजित किये जाने पर वैराग्य धारण कर लेते है, उनमे से अधिकांश का पतन ही होते देखा गया है। इसीलिये विशुद्ध निवृत्ति-मार्ग के विरले ही अधिकारी होते हैं। सभी बड़े बड़े ऋषि-महर्षियों ने इसी लिये प्रवृत्ति मार्ग को अपनाया। इसीलिये उन्होंने धर्म-पूर्वक वेद विधिसे दारा ग्रहण किया। इस विषय मे जिन्होंने मिथ्या हठ किया, वे प्रायः फिसलते ही देखे गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पहले मैं आप को महामुनि ऋष्यशृङ्ग की उत्पत्ति-कथा सुनाकर, तब उस वेश्या की मोहिनी करतूतों की कहानी सुनाऊँगा।

प्रजापति भगवान कश्यप के एक विभाण्डक नामक पुत्र थे। वे बड़े ही त्यागी, तपस्वी, संयमी और स्वाध्याय-परायण थे। भगवान् विश्वामित्र ने जहाँ तप किया, वहीं सिद्धाश्रम में वे रहते थे। उनके तप की सर्वत्र ख्याति थी। वे एक विशाल सरोवर में खड़े होकर जब तक सूर्य पीठ पीछे न आ जायें, तब तक तपस्या करते रहते थे। सरोवर बड़ा ही सुन्दर और सुविस्तृत था उसमें नाना भाँति के कमल खिले रहते थे। देवता, सिद्ध और चारण भी उसमें स्नान करने आते थे।

एक बार मुनि गरमी के दिनों में उसी सरोवर में खड़े होकर तप कर रहे थे। सूर्य सिर पर आ गये थे। खड़े-खड़े मुनि थक

गये थे। शरीर मे उष्णता व्याप्त हो रही थी। सूर्य अपनी पूर्ण कलाओं से तप रहे थे। उसी समय स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी वहाँ स्नान करने आ गई। उस अनुपम रूप लावण्य युक्त स्वर्गीय ललना को देखकर मुनि का मन विचलित हो गया। वे बार बार प्रयत्न करके अपनी दृष्टि को उसकी ओर से हटाना चाहते थे, किन्तु उसके सौन्दर्य मे इतना अधिक आकर्षण था कि मुनि अपने श्रम मे सफल न हुए। वे अपलक दृष्टि से उस रूप की राशि, सौन्दर्य की साकार प्रतिमा तथा माधुर्य मनोहर रूप अप्सरा को निहारते ही रह गये। अनजान मे उनका वीर्य स्खलित हो गया। उसी समय आश्रम की एक पालिता हरिणी वहाँ पानी पीने को आई। पानी के साथ ही उस अमोघवीर्य को भी पान कर गई। उसके गर्भ रह गया। उसी के उदर से महामुनि ऋष्यश्रृङ्ग का जन्म हुआ। मृगी के उदर मे से उत्पन्न होने से उनके सिरपर एक सींग था। महर्षि विभाण्डक उस बालक का पालन पोषण करने लगे।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! इतने बड़े महर्षि का वीर्य उर्वशी के दर्शनमात्र से ही स्खलित कैसे हो गया और एक हरिणी महामुनि के अमोघवीर्य को उदर मे धारण करने मे समर्थ कैसे हो सकी ?"

इस पर सूतजी ने कहा—"भगवन् ! भावी सब कुछ करा लेती है। जैसी भवितव्यता होती है, वैसे ही सब बानिक बन जाते हैं। यह हरिणी साधारण हरिणी नहीं थी। पूर्व काल में यह एक देवकन्या थी। किसी पुण्यात्मा राजा को देखकर यह हरिणी की भाँति अपने बड़े बड़े नेत्रों से चकित-चकित भाव से उस राजा को अनुराग भरी दृष्टि से निहार रही थी। उसकी इस अविनय को देखकर लोकपितामह ब्रह्माजी को क्रोध आ गया

और उन्होंने शाप दिया—"जा, तू मर्त्यलोक मे हरिणी हो जा।" जब उसने बहुत अनुनय विनय की, तब ब्रह्माजी ने कह दिया—"अच्छो वात है। मेरा शाप तो व्यर्थ होने का नहीं। हरिणी तो तुझे होना ही होगा, किन्तु जब तेरे उदर से एक ऋषिपुत्र हो जायगा, तभी तू शाप से मुक्त हो जायगी।"

यह सुनकर उसे सन्तोष हुआ। वही देव कन्या यहाँ आकर हरिणी वनी। वह मुनि के आश्रम के निकट रहती थी और हरे हरे तृण खाकर अपने शाप की अवधि की प्रतीक्षा करती रहती थी। एक दिन उर्वशी उधर से निकली। जब उसने अपनी सखी को हरिणीके रूपमे देखा,तव उसपर उसे दया आगई। वह सोचने लगी, 'किस प्रकार इसके उदर मे ऋषि का शुक्र पहुँचे।' उसी समय उसे सम्मुख तपस्या करते हुए कश्यपसुत महर्षि विभाण्डक दिखाई दिये। वह लज्जा का भाव प्रदर्शित करती हुई सरोवर के समीप गई। वह स्नान के वहाने वहाँ अपने समस्त अङ्गो को निरावृत करने लगी। निधि का विधान, भावी की प्रवलता, मुनि की दृष्टि उस पर पड गई और उनका शुक्र स्खलित हो गया। मृगी उसे पान कर गई। दैवकृत भावी को सत्य सिद्ध करने के निमित्त महामुनि शृङ्गी ने उस हरिणी के उदर से जन्म लिया। मुनि पुत्र को जन्म देकर वह हरिणी स्वर्ग सिधार गई और उसे वही अपनी पूर्व की योनि प्राप्त हो गई। मुनि विभाण्डक उस वच्चे को गो का दूध पिलाकर पालने पोसने लगे।

मुनि को रेत पात से वडा क्षोभ हुआ। वे सोचने लगे—"अप्सरा को देखने से ही मेरा तेज नष्ट हुआ। अब मैं अपने इस पुत्र को कभी भूलकर भी स्त्री के दर्शन न कराऊँगा। इसे विशुद्ध ब्रह्मचारी बनाऊँगा।" यही सोचकर वे अपने पुत्र ऋष्य-शृङ्ग को अपने आश्रम से वाहर कहीं जाने नहीं देते थे। वे उन

से नियमपूर्वक जप, अग्निहोत्र कराते, वेद पढ़ाते और बड़े-ढ़ेच ऋषियों को छोड़कर किसी से उन्हें मिलने नहीं देते थे। स्त्री को तो वे अपने आश्रम की परिधि में पैर ही नहीं रखने देते थे। कोई बूढ़ी ऋषि-पत्नी भी वहाँ नहीं आ सकती थी। आना तो दूर की बात, पुत्र के सम्मुख कभी स्त्री का नाम भी नहीं लेते थे। ऋष्यशृङ्ग जानते भी नहीं थे, कि मुनियों के अतिरिक्त कोई और भी स्त्री पुरुष होते हैं। उन्होंने न कोई नगर देखा था, न नगर की वस्तुएँ ही। वे ब्रह्मचारियों की भाँति मूँज की मेखला पहनते; रुद्राक्ष की माला, कुशा को पवित्री और ब्रह्मदण्ड धारण करते। पलाश का दण्ड, कौपीन और वल्कल वस्त्र—यही उनका वेष था। जप, तप, अग्निहोत्र, स्वतः ही उत्पन्न वनके कड़वे-कसैले फल, गो तथा अपने पिता के अतिरिक्त उन्हें पता भी नहीं था कि संसार में और भी कुछ वस्तु है। वे समझते थे, संसार मे सभी तपस्वी ही हैं; सब जप, तप, व्रत, अनुष्ठान मे लगे रहते हैं। उनके पिता समिधा, कुशा, फल-फूल तथा जल भी स्वयं ही लेने जाते। मध्याह्नोत्तर एक प्रहर के लिये वे बाहर जाते थे। वे उस समय बहुत-सा काम अपने पुत्र को बता जाते। इस बीच कोई ऋषि-महर्षि आ जाते तो ऋष्यशृङ्ग उनको भी पाद्य-अर्घ्य तथा फल-फूल देकर सन्तुष्ट करते, उनका स्वागत-सत्कार करते। सभी ऋषि ऋष्यशृङ्ग के भोलेपन से सन्तुष्ट थे। विभाण्डक मुनि अपने पुत्र की सरलता, भोलेपन तथा विषयो की ओर से अनभिज्ञता देखकर फूले नहीं समाते थे। वे एक प्रकार से उनकी ओर से निश्चिन्त हो गये थे।

मुनिवर ऋष्यशृङ्ग अब बाल्यावस्था को पार कर गये थे। युवावस्था ने, उनको बिना सूचना दिये ही, उनके शरीर पर अधिकार जमा लिया। अब तक तो उनकी जटायें ही थीं, अब उनके

श्रोष्ठ काले पड़ने लगे उनमें काले काले छोटे बाल भी उगने लगे। ठोढी और कपोलों पर भी बाल आने लगे। दोनों काँखों मे भी उन्होंने देखा, बाल उग रहे हैं। हृदय में भी कुछ सरसता का संचार होने लगा। यौवन अव्यक्त भाव से आकर उनके कान में कुछ गुनगुना जाता, किन्तु वे उसका कुछ भी अभिप्राय न समझ सकते। वे भोले बच्चे ही थे। उनके कपोलों के ऊपर कुछ-कुछ मुहा से उत्पन्न होने लगे। एक दिन उन्होने अपने पिता से पूछा—"पिताजी! मेरे एक सींग तो है ही, अब ये कपोलों पर भी सींग उत्पन्न होंगे क्या ?"

पिता ने कहा—" नहीं, बेटा! ये सींग नहीं, कीले हैं। अँगूठे और उँगली से इन्हे दबा दो, तो काली कीलें निकल जाँयगी। अवस्था बढने पर ये मुंह पर हो जाती हैं। इन्हें मुहासे कहते हैं।

ऋष्य-शृङ्ग ने पूछा—"पिताजी! आप को भाँति मेरे भी इतनी लम्बी दाढ़ी होगी ?"

पिता ने कहा—"हाँ, बेटा! होगी क्यों नहीं ? किन्तु एक दिन में थोड़े ही होगी। शनैः शनैः होगी।"

पुत्र ने पूछा—"पिता जी! न जाने क्यों, मेरा शरीर कुछ टूटता सा है, अँगड़ाइयाँ आती हैं। अब मन कुछ और-ही-और-सा हो गया है।"

पिता ने प्यार से कहा—"तुम पढने मे श्रम कम करते हो। पढते ही रहा करो, तीनों काल स्नान किया करो। निद्रा कम कर दो। यह एक प्रकार का रोग है।"

भोले बच्चे ने ये सब बातें मान लीं। उसकी तो पिता के एक एक शब्द पर श्रद्धा थी, उसके लिये तो पिता ही सब कुछ थे। पिता जो कह दें, वही वेद वाक्य। इस प्रकार वे ऋषि घोर तप में निरत हो गये, उनका युवावस्था से साक्षात् परिचय नहीं हुआ।

इधर बूढी वेश्या अपनी नौका सजाकर महामुनि विभाण्डक के आश्रम की ओर चल दी। जब आश्रम दो कोस रह गया, तो उसने वहाँ अपनी नौका एक पर्वत की आड मे छिपाकर खडी कर दी। उसने चारो ओर गुप्तचर लगा दिये। वे सब मुनि की गति विधि का पता लगाने लगे। उसने मुनि का दैनन्दनकृत्य सब जान लिया। मुनि कब कुशा समिधा लेने जाते हैं, कब लौटकर आते हैं—यह सब जानकर उसने जाल बिछाया। उसे पता चला, चतुर्दशी के दिन मुनि मध्यान्ह कृत्य करके ही चले जाते हैं और सूर्यास्त के समय लौटते हैं; क्योंकि अमावास्या और पूर्णिमा को उन्हें देवपौर्णमास्य यज्ञ करने होते हैं। वे उनके लिये बहुत सी सुन्दर समिधा दूर से लाते हैं। बस, उसी दिन उसने ऋष्यश्रृङ्ग को फँसाने का निश्चय किया।

शुक्लपक्ष की चतुर्दशी आई। एक गुप्त स्थान मे वह अपनी पुत्री के साथ छिपी बैठी रही। मुनि विभाण्डक जब मध्यान्ह कृत्य करके और प्रसाद पाकर समिधा कुशा लेने चले गये, तब उसने अपनी परम सुन्दरी पुत्री को भली भाँति सजा धजाकर सोलहों शृङ्गार करके मुनिपुत्र ऋष्यश्रृङ्ग के समीप भेजा।

उस वेश्या पुत्री ने भी अभी युवावस्थामे पदार्पण किया था। यौवन के मद मे मदमाती अलसाती मन्द मन्द गति से वह मुनि पुत्र के पास पहुँची। मुनिपुत्र एक कुशासन पर वल्कल बिछाये वेदाध्ययन कर रहे थे, कि यह वेश्यापुत्री छमछम करती हुई उनके समीप पहुँची। इसके बहुमूल्य वस्त्रों से सुगन्धि आ रही थी। सुगन्धित पुष्पों की वह माला पहने हुए थी। केशों में सुगन्धित तेल पडा था, वस्त्रों में और अंग में इत्र फुलेल लगे थे। उसे देख कर मुनि पुत्र सहसा उठकर खड़े हो गये। उसका मुखमण्डल दामिनी के समान दमक रहा था, कानों के कुण्डल कपोलों पर

आकार हिल रहे थे, उसके प्रकाश मे उसका सौन्दर्य फूट-फूटकर बह रहा था। ऋष्य-शृङ्ग उसे देखकर भौचक्के से रह गये। ऐसे मुनि उन्होने आजतक नहीं देखे थे। उन्होंने समझा, ये कोई महान् व्रत-धारी बहुत उग्र कोटि के मुनि हैं। अतः उन्होंने अपने सदाचार के अनुसार मुनि को अभ्यर्थना की और बोले—"मुनिवर! आपके तप के तेज से मैं आपको अपने से श्रेष्ठ मानता

हूँ। अतः मैं आपको प्रणाम करता हूँ। यह गङ्गाजल है,

सुन्दर, स्वच्छ निर्मल है। इसमे उशीर (खस) भी पड़ी है। आप इससे अपने चरण धोवें। यह अष्ट वस्तुओं से बनाया हुआ अर्घ्य है, इसे आप ग्रहण करें। इस सुन्दर वल्कल वस्त्र से ढॅके मृगचर्म पर विराजे। ये वन के वेर, पीलू, आँवले तथा अन्य जो जङ्गली फल हैं, इन्हे आप स्वीकार करें।"

उस वेश्या पुत्री ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं किसी के नमस्कार को ग्रहण नही करता। न मैं आप के पाद्य और अर्घ्य को ही स्वीकार करूॅगी। ये कडवे, कपैले, जङ्गली फल मेरे किसी काम के नही। उन्हे मैं दूर फेंके देती हूँ। आप मेरे दिये हुए फलों को खायॅ, मेरे लाये हुए पेय को पीवे। मैं किसी के नमस्कार को ऐसे ग्रहण नहीं करती। मेरे व्रत हैं, मैं सबका आलिङ्गन करती हूॅ। अतः आइये, मैं आपका आलिङ्गन करूॅ।"

भोले भाले ऋषिकुमार क्या जानते थे, कि इसके आलिङ्गन मे हलाहल विष भरा है। सरल स्वभाव से वे उसकी छाती से सट गये। उस बार वनिता ने बार बार मुनि पुत्रका गाढालिगन किया। मुनि पुत्र के सम्पूर्ण शरीर मे बिजली सी दौड गई। वे आत्म विस्मृत से बन गये। फिर उसने उनके मुख को झुकाकर उसे बार-बार चूमा। उसके सुखद स्पर्श और शरीर की दिव्य गन्ध से मुनि की चेतना नष्ट-सी हो गई। वे समझ ही न सके, यह क्या जादू है! फिर उसने मुनि पुत्रको अपनी झोली मे से निकाल कर रसगुल्ले दिये। जीवनभर उन्होने कडवे, कपैले, जङ्गली फल खाये थे, उन सुन्दर,स्वादिष्ट,रसीले गुलगुले पुलपुले,सट्टसे गले के नीचेलकीर सी करते हुए उतर जानेवाले, सुगन्धित फलो को खाकर, वे चकित रह गये। उनसे उनकी तृप्ति ही नहीं होती। रसगुल्ले-गुलाबजामुन खिलाकर फिर उस वेश्या ने उन्हें हलकी-सी सुगन्धित द्रव्योंसे युक्त सुरा पिलाई। उसके पीते ही मुनिकी आॅखें चढ़ गई। अब तो वे

उस वेश्या पुत्री की ओर एकटक भाव से देखते रहे। अब उसने अपने वस्त्रों से गेंद निकाला। पैरों के नूपुरों को बजाती हुई वह गेंद उछालने लगी। वह दौड़कर उसे ले लेती। उसने ऋष्यशृङ्ग से कहा—"तुम भी इसे ऊपर ही ऊपर अपने हाथों में लो।"

मुनि पुत्र ने कभी गेंद देखी नहीं था। वे उसके कथनानुसार उसके पीछे दौड़ते। वह अवसर पाते ही उनका आलिङ्गन कर लेती। मुनि पुत्र को बड़ा सुख प्रतीत होता, वे बार बार उसका आलिङ्गन चाहते। इस प्रकार वह बड़ी देर तक उनके साथ गेंद खेलती रही। गेंद खेलते समय एँडी तक लटकती हुई उसकी वेणी में से बहुत से सुन्दर फूल गिर गये, फिर उसने मुनि पुत्र को गाना सुनाया, नृत्य दिखाया और मुनि के आने का समय जानकर उनसे बोली—"मुनिवर! अब मुझे जाने की आज्ञा दीजिये, देर हो रही है। मैं अपने आश्रम पर जाऊँगी।"

विवशता के स्वर में मुनि पुत्र बोले—"मैं तुम्हारे बिना कैसे रह सकता हू! मुझे भी अपने साथ ले चलो। तुम्हारा आश्रम कहाँ है?"

वेश्या पुत्री ने कहा—"मेरा आश्रम यहाँ से दूर है। अभी मुझे सध्या वन्दन आदि सायकालीन कृत्य करने हैं। फिर कभी मैं आऊँगी, तो आपको अपना आश्रम दिखाने ले चलूँगी। इस समय मुझे बहुत आवश्यक कार्य है।" इतना कहकर वह छम-छम करती हुई बार-बार टेढी चितवन से मुनि पुत्र को निहारती हुई चली गई।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब तक वह वेश्या दिखाई देती रही, तब तक तो मुनि पुत्र एकटक भाव से खड़े-खड़े उसे देखते रहे। जब वह उनकी दृष्टि से ओझल हो गई, तब वे वहीं पछाड़ खाकर गिर पड़े। उन्हें मूर्च्छा—सी आ गई। सुरा के मद से

उनकी आँखे लाल हो रही थीं। हृदय में एक प्रकार की ऐंठन सी हो रही थी, मानो कोई उनके पके हृदय को मसल रहा हो और उसमें मीठी मीठी वेदना हो रही हो। कुछ काल में मुनि पुन को चेतना हुई। वे उठकर बैठ गये। उन्हें सम्पूर्ण संसार सूना-सूना सा दिखाई देने लगा, पृथ्वी घूमती-सी प्रतीत होने लगी। चतुर्दशी के चन्द्र उनकी ऐसी दशा को देखकर खिल उठे, युवक मुनि की हृत्तन्त्री के तार उस वेश्या की विरह वेदना से बज उठे। वे सन्ध्या वन्दन, वेद पाठ, गो दोहन—सब कुछ भूलकर सिडी पागलो की भाँति निर्निमेष दृष्टि से आकाश की ओर देखने लगे। उनके नेत्रों से अश्रु निकल रहे थे। वे उस वेश्यापुत्री की मनोमयी मूर्ति से बातें कर रहे थे। उसी को हृदय मन्दिर में बिठाकर उसका ध्यान कर रहे थे।

छप्पय

वीर्य विभाण्डक पान नार सँग हरिनी कीयो।
जन्यो शृङ्ग सिर पुन नाम शृङ्गी धरि दीयो॥
विपयनि तैं अनभिज्ञ वृत्ति तप माँहिं लगाई।
नारि न कबहू लखी करन छल वेश्या आई॥
परम सुन्दरी षोडशी, लखि समुझे मुनि तपोधन।
आलिङ्गन छल तैं करयो, मोहित मुनि को करयो मन॥

मुनि ऋष्यशृङ्ग फँसे

(८००)

नाव्यसङ्गीतवादित्रैर्विभ्रमालिङ्गनार्हणैः ।
स तु राज्ञोऽनपत्यस्य निरूप्येष्टिं मरुत्वतः ॥१

(श्रीभा० ९ स्क० २३ अ० ९ श्लो०

छप्पय

अति भोरे सब बात कपट बिनु पितुहिं बताई ।
समुझि गये मुनि यहाँ कामिनी कुलटा आई ॥
सुत समुझायो–वत्स ! न मुनि खल तोहि भुलायो ॥
अब करियो मत बात असुर माया करि आयो ॥
पितु-आयसु मानी नहीं, दशा अनौखी-सी भई ।
घायल करि शर सैन तैं, ठगिनी ठगि कै लै गई ॥

शील, संकोच, लज्जा, विनय आदि सद्गुण तभी तक रहते हैं, जब तक चित्त को किसी तिरछी चितवन ने चुराया न हो, जब तक भ्रुकुटि-रूप बाण पर चढ़ाकर किसी कामिनी ने कटाक्ष शर से युवक के हृदय को बेधा न हो। मन मे जहाँ कामाशक्ति का अंकुर उत्पन्न हुआ, वहाँ व्यवहार मे कपटता आ जाती है, बड़ो के प्रति आदर-भाव कम हो जाते हैं, भावों के गोपन की प्रवृत्ति

१—श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! मुनि पुत्र ऋष्यशृङ्ग को वेश्यायें नृत्य, गान, वाद्य, हाव-भाव तथा आलिङ्गन आदि विविध विधियों से मोहित करके राजा के पुर में ले आई। उन्हीं ऋष्यशृङ्ग ने पुत्रहीन महाराज रोमपाद को पुत्र के लिये मरुतों की इष्टि करायी।"

बढती है, मन अन्य चिन्तनीय वस्तुओं को छोडकर उसी सुन्दर मूर्ति का मनन करता रहता है। भगवान् की मनमोहिनी मधुर मूर्ति का हम नित्य ध्यान करते हैं, हठपूर्वक मन को उसमें लगाते हैं, हर समय उसे सम्मुख रखने की चेष्टा करते हैं, नख से शिख तक और शिख से चरण पर्यन्त मनोयोग से उसका चिन्तन करते हैं, फिर भी वह मन मे नहीं बैठती, कभी स्वप्न मे भी दिखाई नहीं देती। उसके विपरीत किसी सुन्दरी कामिनी को सहज स्वभाव ही देख ले, देखकर दृष्टि हटा लें, तो पलभर के ही अवलोकन से मनमे वह मूर्ति गढ-सी जाती है। जितना ही उसे भुलाने का प्रयत्न करते हैं, उतनी ही उसकी स्मृति और अधिक आती है। यही भगवान् की भुवन मोहिनी माया का प्रभाव है। यही ससार को बनाये रखने-वाली उनकी प्रकृति, माया अथवा अविद्या है। जीव सोचता नहीं कि जडरूपा मिथ्या माया में जब इतना आकर्षण है, तो उन मायापति मे न जाने कितना आकर्षण होगा, जब प्राकृतिक सौंदर्य मे ही इतनी मादकता है, तब प्रकृति से परे उस परमपुरुष के सौन्दर्य मे कितनी मोहकता होगी। किन्तु यह जानने की योग्यता हो तब न ? योग्यता भी तो उन्हीं का कृपासे प्राप्त हो सकती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वेश्या के लौट जाने के कुछ ही काल पश्चात् महामुनि विभाण्डक समिधाओं का गट्ठर सिर पर लादे, कुशा, फल फूल लिये, अपने आश्रम पर आये। आज उन्होने देखा कि उनके पुत्र ने सदा की भाँति उनका सम्मान नहीं किया, दौडकर उनके सिर से समिधाओं का गट्ठर नहीं उतारा, पैर धोने को कमंडलु में भरकर जल नहीं लाया। वह मुनि को देखकर उठा तक नहीं, उसे पता भी नहीं चला कि मुनि ने कब आश्रम में प्रवेश किया। ऐसा देखकर मुनि चकित रह गये, आज

उनके पुत्र की विचित्र दशा थी, आज से पूर्व उन्होंने ऋष्यशृङ्ग को पहले कभी भी इस दशा मे नहीं देखा था। ऋषि-पुत्र अकेले ही उस शून्य आश्रम मे बैठे हैं। उस वेश्यापुत्री की मनमोहिनी मूर्ति का वे तन्मय होकर ध्यान कर रहे हैं। वियोग, विवशता, विह्लता तथा व्याकुलता के कारण वे लम्बी-लम्बी गरम गरम साँसें ले रहे हैं। उनकी आँखे चढी हुई हैं। वे अपलक शून्य आकाश की ओर निहार रहे हैं, मानो आकाश मे त्राटक कर रहे हों। उनका मन दूषित हो गया था। अपने पुत्र की ऐसी दशा देखकर मुनिने समिधाओं के गट्ठर को उतारकर रख दिया और ऋष्यशृङ्ग के समीप जाकर बोले—"बेटा! आज तेरी यह क्या दशा हो गयी है? अभी तक तूने सायंकालीन सन्ध्या और अग्निहोत्र क्यों नहीं किया? ये स्रुवा और स्रुक् तो अभी बिना धोये ही पडे हैं। यज्ञशाला की सभी वस्तुएँ अस्त-व्यस्त पडी हैं। ये आसन और मृगचर्म वैसे ही पडे हुए हैं! अभी तक तूने न बछड़े को दूध पिलाया, न गौ को ही दुहा! तेरी आँखें क्यो चढ़ रही हैं? तेरे वल्कल वस्त्रों में धूल क्यों लगी है? तेरी ऐसी दयनीय दशा किस कारण हुई? तू इतना अन्यमनस्क क्यों हो रहा है? ऐसी दशा में आज से पहले तो मैंने तुझे कभी देखा नहीं! तू अपने दुःख तथा चिन्ता का कारण मुझे बता।"

मुनि के इन प्रश्नों को सुनकर ऋष्यशृङ्ग ने उठकर अपने पूजनीय पिता को प्रणाम किया। वे अत्यन्त ही भोले थे, छल कपट दुराव छिपाव तो उन्होंने सीखा ही नहीं था। ये तो नगरों की, सभ्यता की उन्नति की, वस्तुएँ हैं। सादगी से वनों में जीवन बिताने वाले भोले भाले मुनि कुमारों मे इनकी गंध भी नहीं। अतः मुनि के पूछने पर सरलता के साथ वे बोले—' पिताजी! क्या बताऊँ? आप के चले जाने के पश्चात् एक बड़े तेजस्वी, तपस्वी मुनि यहाँ

पधारे। तात ! आज तक इतने प्रभावान् तपोधन के दर्शन मैंने किये ही नहीं थे। उनकी सभी बातें विचित्र और आकर्षक थीं। उनका वेश हम सब मुनियों से पृथक् ही था उनकी जटायें बड़ी बडी थीं। वे बीच से दो फाँक करके पीछे की ओर गुथकर विचित्र रीति से लटकाई हुई थीं। वे हम लोगों की जटाओंकी भाँति रूखी रूखी और शुष्क नहीं थीं। वे चिकनी और सुन्दर थीं। उनमे से निरन्तर एक दिव्य सुगन्धि निकल रही थी। उनमे विचित्र विचित्र रङ्ग बिरंगे पुष्प लगाये हुए थे। सम्मुख ये कुछ पुष्प पड़े हैं। ये उन्हीं तपोधन मुनि की जटा से निकलकर गिर गये हैं। उनका मस्तक विशाल और आकर्षक था। हम लोग जैसे भस्म का तिलक लगाते हैं, उन मुनि का ऐसा तिलक नहीं था। एक लाल रङ्ग की बिन्दी लगी हुई थी। उनके शरीर मे जो भस्म लगी थी, वह काली नहीं थी। स्वच्छ-सुगन्धित थी। उनकी भौंहें हमारी जैसी नहीं थी ऐसी भौंहें आज तक मैंने किसी मुनि की नहीं देखीं। वे पतली और टेढ़ी थीं। न जाने उनमे क्या लगाया था, जिससे वे चमक रही थीं। उनके नेत्र विशाल और कमल के समान थे। जब वे मेरी ओर निहारते, तब ऐसा लगता, मानों अमृत की वृष्टि कर रहे हों। उनकी नाक बडी सुघड, ऊँची और पतली थी। उसमें जाने उन्होंने कैसे छिद्र करके एक गोल सी कोई वस्तु पहन रखी थी। उसकी नीली नीली किरणे चमचमा रही थीं। पिताजी ! उनके कानो मे गोल गोल कोई वस्तु पडी थी, जो कपोलो की शोभा बढ़ा रही थी। उनके दाँत गौ के दुग्ध के समान स्वच्छ थे। उनके मुख कमल से निरन्तर सुगन्धि आ रही थी। उनके ओठ कुँदरू के समान थे। उनके रुद्राक्ष हमारे रुद्राक्षो से भिन्न थे। वे काले नहीं थे, पीले थे। वे चमचमा रहे थे। उनकी माला तुलसी की नहीं थी, न जाने लाल, नीले, हरे—वे किसके

टुकड़े थे ? उन्होंने कई मालायें पहनी थीं। उनकी पुष्पों की माला भी दिव्य थी। उनकी बाहुएँ उतार चढ़ाव की सुन्दर थीं। रत्न के स्थान मे कोई बजनेवाली वस्तुएँ वे पहने हुए थे। जब वे हाथों को हिलाते,तब बड़ा विचित्र शब्द करके बजने लगते। उनके कण्ठ के नीचे,वक्षःस्थल के ऊपर,मांस के दो गोल गोल,उभरे,रोम रहित पिंड थे। वे एक लाल रङ्ग के पतले वल्कल वस्त्रसे विचित्र प्रकार से बाँधे हुए थे। वे एक नीले रंग का वल्कल ओढ़े थे, जो ऐसा पतला था, कि उसमें से अम्बर दिखाई देता था। उनकी उँगलियाँ पतली पतली और कोमल थीं। उनकी पवित्री कुशा की बनी नहीं थी। उसमें कोई लाल रङ्ग की ऐसी वस्तु जड़ी थी, जो जगमगा रही थी। उनका उदर कृश था, नाभि भीतर से गहरी और गोल। उनकी मेखला हमारी मेखला से भिन्न थी। उसमें विचित्रता यह थी, कि वह बजती थी और उनके वल्कलों मे से वह बिजली के समान चमकती थी। उनका नितम्ब भाग अन्य मुनियों से भारी था। उनके सभी वल्कलों में से सुगन्धि आ रही थी। वे तपोधन योगी जब चलते थे, तब उनके पैरों मे कोई विचित्र वस्तु बड़े ही मधुर स्वर मे बजती थी। उनके चरण कोमल, रंगे हुए, लाल, सुन्दर और सुगन्धियुक्त थे। वे महानु भाव विचित्र ढँग से चलते थे। उनके मुख मण्डल पर निरन्तर मन्द मन्द मुस्कान छाई रहती थी। जब वे ठठाका मारकर हँसते,तब ऐसा प्रतीत होता, मानो पुष्प झड़ रहे हों। पिताजी ! उनका तेज तप, व्रत—सभी अलौकिक था। उनके ब्रह्मचर्य व्रत का क्या नाम है ? किस अनुष्ठान के द्वारा उन्होंने इतना तेज प्राप्त किया है ? मैं भी उनके साथ वैसा ही तप करके ऐसा तेज चाहता हूँ।

पिताजी ! वे हँसते हुए मेरे निकट आये। मैंने उन्हें प्रणाम

करना चाहा, पाद्य और अर्घ्य देना चाहा, किन्तु न तो उन्होंने मेरे प्रणाम को ही स्वीकार किया और न मेरे दिये हुए पाद्य-अर्घ्य को ही। मेरे दिये हुए भिलावाँ, पीलू, बेल, आँवले तथा कैथ आदि फलों को उन्होंने दूर फेंक दिया। फिर उन्होंने अपनी झोली में से गोल-गोल छोटे-छोटे बड़े विचित्र फल निकाले। आश्चर्य की बात है पिता जी! उनके फलों में न छिलके थे, न गुठली। उनका स्वाद अलौकिक था। अमृतोपम वे फल कण्ठ में हिटकते नहीं थे। उनको मुख मे रखते ही जीभ से पानी निकलने लगता और वे मट्ट से गले के नीचे उतर जाते। उन्हें चाहे जितना खाओ, तृप्ति ही नहीं होती थी। उनसे न दाँत खट्टे होते थे, न चित्त ही ऊबता था। दाँतों का काम हो नहीं, ओंठ से वे गल जाते और स्वतः ही नीचे उतर जाते। फिर उन्होंने अपना कमण्डलु निकाला। वह हमारे कमण्डलुओं से भिन्न था। वह अत्यन्त ही चमकीला था, लम्बा-लम्बा-सा था। उसका मुख छोटा था। वह किसी वस्तु से बन्द था। उसे खोलकर उसमें से उन्होंने मुझे एक पेय पिलाया। उसे पीते ही यह पृथ्वी मुझे घूमती-सी दिखाई देने लगी, चित्त मे स्फूर्ति उत्पन्न हो गई, इन्द्रियों मे मादकता छा गई, विचित्र-सी दशा हो गयी। पिताजी! उनके पास विल्व की भाँति एक विचित्र फल था। उसे वे पृथ्वी पर मारते, तो वह उछल जाता। उसे वे बीच मे ही दोनों हाथों को पसार कर ले लेते। फिर मारते और दौड़कर उसे ले लेते। इस प्रकार वे बहुत देर तक मेरे साथ क्रीड़ा करते रहे। वे बार-बार मुझे हृदय से लगाते। इससे मुझे बड़ा सुख मिलता। कई बार उन्होंने मेरे मुख को नवाकर उसपर अपना मुख रखकर एक अव्यक्त शब्द किया, जिससे मेरे रोमाञ्च हो गये। पिताजी! वे महात्मा बड़े अच्छे थे, हँस-हँसकर मुझसे बातें करते थे, मुझसे

अत्यन्त ही स्नेह करते थे। उनकी चलन, चितवन, उठन, बैठन, अवलोकन, मुस्कान, क्रीड़ा, वेदगायन,नृत्य—सभी बातें मोहक और विचित्र थीं। उनकी जटाओं में से पुष्प झड़ते थे। वे बड़ी देर तक मेरे पास रहे। पिता जी ! मेरा मन उन्हीं के साथ रहने को करता है। जब से वे गये हैं, मेरा मन उदास हो रहा है, शरीर टूट रहा है। पलभर को भी वे मेरे मन से पृथक् नहीं होते। मैं उन्हीं की जैसी तपस्या करना चाहता हूं।"

अपने भोले-भाले अनजान अबोध पुत्र के मुख से ये सब बातें सुनकर मुनि समझ गये कि कोई कुलटा मेरे बच्चे को बहकाना चाहती है। हाय ! इसके लिये मैंने सब प्रयत्न किये और सब व्यर्थ हुआ चाहते हैं। मैं चाहता था कि मेरा बच्चा स्त्री-स्पर्श से सदा दूर रहे। अब एक बार इसने उसका अनुभव कर लिया, तब तो इसका बचना असम्भव है। फिर भी उन्होंने पुत्र को स्त्री का ज्ञान नहीं कराया। उस वयस्क बालक को अज्ञान में ही रखने के निमित्त वे बोले—"बेटा ! वह कोई तपस्वी नहीं था, राक्षस था। राक्षस बड़े मायावी होते हैं। वे विचित्र-विचित्र वेश बनाकर लोगों को कुपथ की ओर ले जाते हैं। फिर कभी ऐसे वेश में राक्षस आवे, तो उसे छूना नहीं। जिनकी उतनी लम्बी-लम्बी जटायें हों, दाढ़ी-मूँछ के बाल नहीं, कण्ठ के नीचे वक्षःस्थल पर मांस- पिण्ड हों; उन सब को बनावटी राक्षस जानना। वे फल विप के थे, उन्हें कभी मत खाना। तुझे उस राक्षस ने जो पेय वस्तु पिलाई थी, वह तपस्वियों के लिये अपेय है; उससे तप, तेज, धर्म, कर्म—सभी नष्ट होते हैं तुम भूल कर भी कभी उसे फिर मत पीना। राक्षसों से सदा सावधान रहना। उन्हें छूने से भी पाप लगता है। जो हुआ, सो हुआ। गङ्गा-स्नान करो, गायत्री का दुगुना जप करो,

सायंकालीन अग्निहोत्र करो। उस राक्षस को भूल जाओ।"

पुत्र ने पिता के कहने से "हाँ" तो कर दी, किन्तु वे उसे मन से भुला न सके। एक बार जिस सुख का अनुभव किया है, वह तीव्र वैराग्य के बिना भुलाया नहीं जा सकता।

महर्षि विभाण्डक को बडी चिन्ता हुई। रात्रि भर उन्हें निद्रा नहीं आई। वे प्रातः होते ही उस वेश्या की खोज मे चले। वेश्या भी सतर्क थी। उसने अपने गुप्तचरों से पता लगवा लिया था, कि मुनि उसकी खोज मे हैं। अतः वह तीन दिनो तक छिपी रही, मुनि को जब वन मे कोई नहीं मिला, तब वे निराश हो गये।

तीसरे दिन ज्योंही वे कुश समिधा लेने वन को गये, त्योंही वह वेश्या पुत्री पुनः ऋष्यशृंग के समीप आई। उसे देखते ही मुनि पुत्र का रोम रोम खिल उठा और वे बड़े ही उल्लास के साथ बोले—"मुनिवर! आप तीन दिन से कहाँ रहे? मुझे तो आपके बिना पल पल भारी हो रहा है। आपके तप, तेज और ब्रह्मचर्य-व्रत से मैं अत्यन्त ही प्रभावित हो गया हूँ। मेरे पिता आपके आने से सन्तुष्ट प्रतीत नहीं हुए। अतः कृपा करके उनके लौटने के पहले ही आप मुझे अपने आश्रम पर ले चलें। आपका आश्रम देखने की मेरी बडी रुचि है।"

वेश्या को यही तो अभीष्ट था। वह तुरन्त मुनि पुत्र को साथ लेकर चल दी। नौका के समीप आकर उसने मुनि को उसमे बिठाया और मल्लाहों से चुपके से कह दिया, नौका खोल दो। मल्लाहो ने नौका खोल दी। गंगाजी की उत्ताल तरंगों को चीरती-फाडती नौका प्रवाह की ओर बढ़ने लगी। वेश्यायें विविध प्रकार के गाने गाकर, नाना प्रकार के हाव-भाव दिखाकर, इधर-उधर की मधुर, कर्णप्रिय बातें कहकर ऋष्यशृङ्ग मुनि के

मन को बहलाती रहीं। मुनि पुत्र समझ रहे थे, मैं किसी दूसरे लोक में आ गया हूँ। उनका ताल स्वर के सहित सुरीला सरस गायन, नाना भाव भङ्गियाँ दिखाकर अद्‌भुत नृत्य तथा विविध वाद्यों के सुन्दर स्वर सुनकर मुनि मुग्ध हो गये। कई बार उन्होंने बीच में पिता का स्मरण किया, किन्तु वेश्याओं ने उन्हें इधर उधर की बातें सुनाकर बहला दिया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार वेश्यायें विविध प्रकार के उपायों से विभाण्डक मुनि के भोले भाले पुत्र को फँसा लाईं। जब यह समाचार अगदेश के राजा रोमपाद ने सुना, तब तो उनके हर्ष का ठिकाना ही न रहा।

छप्पय

मुनि–सुत के छिपि पास वार–बनिता पुनि आई।
नौका पै ले गई नाव पुनि तुरत चलाई॥
गावत रसमय गीत नृत्य करि बाद्य बजावत।
अङ्ग देश ले गये चित्त महँ अति हरषावत॥
ऋष्यशृङ्ग पहुँचे जबहिं, राज माँहि बरषा भई।
भये सुखी सब प्रजागन, विपति-भूतिनी भगि गई॥

———

महाराज रोमपाद के वंशज

(८०१)

प्रजामदाद्दशरथो येन लेभेऽप्रजाः प्रजाः ।
चतुरङ्गो रोमपादात्पृथुलाक्षस्तु तत्सुतः ॥

(श्री भा० ९ स्क० २३ अ० १० श्लो०)

छप्पय

शान्ता कन्या संग ब्याह मुनि सुतको कीन्हों ।
सुकुमारी लहि बहू, जगत सुख मुनि अब चीन्हों ॥
कोप विभाण्डक करयो, रोष तें नृप पुर आये ।
बहु स्वागत नृप करयो बहू सुत पैर गिराये ॥
पुत्र - वधू - सँग पुत्र कूँ, लखि लट्टू मुनिवर भये ।
उड़्यो क्रोध कर्पूर-सम, पुत्र - वधू कूँ वर दये ॥

ऐसा सिद्धान्त है, कि कितना भी कामातुर पुरुष हो, उसे अत्यधिक क्रोध दिलाया जाय, तो क्रोध के आवेश में उसकी काम-भावना नष्ट हो जायगी । इसी प्रकार क्रोधाविष्ट पुरुष को अपनी कामना के अनुसार मोहक वस्तुएँ दिखा दी जायँ, तो उसका क्रोध नष्ट हो जायगा । क्रोध एक प्रकार की अग्नि है । अग्नि जैसे जल से शान्त हो जाती है, वैसे ही क्रोधाग्नि शुचि सुन्दर पवित्र उज्ज्वल

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! मुनिवर ऋष्यश्रृंग के यज्ञ कराने पर पुत्रहीन राजा दशरथ ने (श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, और शत्रुघ्न) पुत्र प्राप्त किये थे । रोमपाद के पुत्र चतुरङ्ग हुए और चतुरङ्ग के पुत्र पृथुलाक्ष हुए ।"

मोहक तथा श्रृंगार-रस की जितनी वर्द्धक वस्तुएँ हैं उन्हें देखकर बुझ जाती है। क्रोधी पुरुष के सम्मुख क्रोध करने से उसका क्रोध और बढ़ता है। चित्त के अनुकूल परिस्थिति देखकर उसका चित्त पानी-पानी हो जाता है। फिर उसे अपने किये पर पश्चात्ताप होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अंग देश के समीप आकर वेश्या ने नौका खड़ी कर दी। मुनि-पुत्र ने पूछा—"मुनियो! अब हम कहाँ आ गये?"

बूढ़ी वेश्या ने कहा—"आयुष्मन्! अब हम अपने आश्रम के निकट आ आ गये। चलिये, हमारा आश्रम देखिये। यह कह कर उसने मुनि को घाट पर उतारा। समाचार पाते ही महाराज रोमपाद सहस्रों ब्राह्मणों और मुनियों को साथ लिये हुए महामुनि ऋष्यश्रृङ्ग का स्वागत करने आये। उन्होंने पाद्य-अर्घ्य देकर विधिवत् मुनि का स्वागत किया और उन्हें बड़ी धूम-धामसे रथपर बिठाकर अपनी राजधानी को ले गये। मुनिपुत्र ने आजतक कभी नगर देखा नहीं था। वे राजधानी की धूम-धाम चहल-पहल स्त्री-पुरुषों तथा बड़े-बड़े भवनों को देखकर चकित रह गये। राजा के पुरोहित ने ऋष्यश्रृङ्ग को सभी प्रवृत्ति-मार्ग की बातें बताईं। राजा ने बड़े आदर सत्कार से मुनिपुत्र को अपने यहाँ बसाया। उनके वहाँ पहुँचते ही इन्द्र ने वर्षा की। चारों ओर जल ही जल दिखाई देने लगा। मरु के समान शुष्क भूमि दैव के बरसते ही शस्य-श्यामला हो गयी।। सर्वत्र हरी-हरी घास और लहराते हुए धान दिखायी देने लगे। राजा ने अपनी परम सुन्दरी अत्यंत सुकुमारी प्यारी-दुलारी पुत्री शान्ता का विवाह ऋष्यश्रृङ्ग मुनि के साथ कर दिया। अब तो मुनि समझ गये, ये मुनि नहीं; भगवान् की मनोहारिणी मोहिनी माया है। इतनी सुन्दरी

वहू को पाकर मुनि अत्यंत प्रसन्न हुए। वे राजा के महलों मे सभी सुखोपभोग की सामग्री तथा सत्कार पाकर शान्ता के साथ गृहस्थधर्म का पालन करने लगे। जैसे भोले भाले मुनि थे, वैसी ही हरिणी की भाँति वड़े-वड़े नेत्रो वाली अत्यंत भोली-भाली राजपुत्री शान्ता थी। शान्ता ने अपना तन-मन-धन तथा सर्वस्व मुनि के चरणों मे समर्पित कर दिया। वह निष्कपट भाव से अपने पति-परमेश्वर की परिचर्या करने लगी। अपनी सेवा-शुश्रूषा, विनय तथा अनुकूल आचरणों से उसने मुनि को अपने वश में कर लिया। मुनि भी उसके प्रेम-पाश मे ऐसे बँध गये, कि वन को भूल से गये।

इधर जब विभाण्डक मुनि लौटकर आश्रम पर आये, तब वहाँ उन्होंने अपने पुत्र को नहीं देखा और परम विस्मित हुए। तत्काल उन्हें शंका हो गयी, अवश्य ही मेरे पुत्र को किसी ने बहका लिया है। उन्होंने आस-पास के सभी मुनियों के आश्रम खोज डाले, किन्तु पुत्र का पता नहीं चला। जब वे अत्यंत क्रोध मे भरे अपने पुत्र को खोज रहे थे, तब एक बूढ़े से मुनि ने हँसकर कहा—"नगर में जाकर देखो, तुम्हारे बच्चे को कोई वेच तो नहीं आया।"

मुनिने लाल-लाल आँख करके कहा—"क्या मेरा पुत्र कोई वेचने की वस्तु है ?"

वृद्ध मुनि ने कहा—"तुमने तो वच्चे को अपना खिलौना ही बना रखा था, न उसे संसार का ज्ञान कराया, न किसी से मिलने दिया, संसार से उसे अज्ञात ही रखा। अज्ञान में त्याग नहीं। ज्ञानपूर्वक त्याग ही सच्चा त्याग है। अंधकार को देखकर ही प्रकाश को महत्ता जानी जाती है। रात्रिका ज्ञान होने पर ही दिन की उपयोगिता बुद्धि मे आती है। जबतक प्रवृत्ति-

मार्ग का पूर्ण ज्ञान न हो, तब तक निवृत्ति मार्ग की उत्तमता प्राणी कैसे जान सकता है? स्वाभाविक प्रवृत्तियों को हठपूर्वक कौन रोक सकता है? समावर्तन और विवाह योग्य पुत्र को स्त्री से परिचय न कराकर जो तुमने पाप किया, उसी के फलस्वरूप अङ्गदेश के राजा के राज्य में वर्षा नहीं हुई। तुम अङ्गराज से जाकर पुत्र का पता पूछो।"

अब तो मुनि को पता चल गया कि यह सब अङ्गदेश के राजा का षड्यन्त्र है। वे क्रोध में भर कर राजा को शाप देने को उद्यत हुए। इस पर सब मुनियो ने एकत्रित होकर उन्हें ऐसा करने से रोका। शास्त्रीय प्रमाण दे देकर उन्होंने इन्हें समझाया—"आपका ऐसा करना अनुचित है। आप अङ्गराजके समीप पहले जायँ और सब बातों का पता लगावें। उनकी सब बातें सुनकर फिर आप उचित समझें, तो उसे शाप या वरदान दें।"

मुनियों की बात मानकर विभाण्डक मुनि क्रोध में भरकर अङ्गदेश की राजधानी चम्पापुरी (चम्पारण्य) की ओर चल पड़े। प्रतीत होता है, इस षड्यन्त्र में कुछ मुनियों का भी हाथ था। राजा को यह सूचना प्रथम ही मिल गयी कि महामुनि विभाण्डक क्रोध में भरकर आ रहे हैं। अतः उन्होंने बहुत से राजकर्मचारी भेजकर गाँव-गाँव में उनके स्वागत सत्कार का प्रबन्ध किया कराया, मुनि जिस गाँव में जाते, उसी गाँव के कृषक तथा अन्य लोग उनका बड़ा आदर करते, सब वस्तुएँ उनको अर्पण करते। मुनि पूछते—"ये किनके गाँव हैं?" तब सब कहते—"महाराज, ये ऋष्यश्रृङ्ग मुनि के गाँव हैं। राजा ने अपनी पुत्री के विवाह में उन्हें दहेज में दिये हैं।" इस प्रकार सभी गाँवों में पूजित तथा सम्मानित होकर वे चम्पापुरी में पहुँचे। राजाने उनका ससमारोह स्वागत-सत्कार किया। भगवान् भी विनय पूजन से प्रसन्न हो

जाते हैं, फिर मुनि तो मुनि ही ठहरे। उनका बढ़ा हुआ रजोगुण दूर हुआ। राजा उन्हे मुनि पुत्र के महलों मे ले गये। वहाँ उन्होंने देखा कि जैसे स्वर्ग मे इन्द्र रहते हैं, वैसे ऋष्यशृङ्ग अत्यत ही सम्मान के साथ राजा के महलों मे ठहरे हुए हैं। सहस्रों दास-दासियाँ उनकी सेवा मे समुपस्थित हैं। राजकुमारी शान्ता बिजली की भाँति इधर से उधर अपने प्रकाश से महलों को प्रकाशित करती हुई, छम-छम करती हुई घूम रही है। पिता को देखते ही लज्जित होकर मुनिकुमार खडे हो गये। पुत्र और पुत्रवधू ने आकर मुनि के पैर पकडे, उनका पूजन किया, और हाथ जोडकर खडे हो गये। इतनी सुन्दरी सुकुमारी राजकुमारी पुत्रवधू को देखकर मुनि का क्रोध कपूर का भाँति उड गया। उन्होंने पुत्र का आलिङ्गन किया, पुत्रवधू के सहित उनका सिर सूँघा और उन्हे पुत्र पौत्रवान् होने का आशीर्वाद दिया। अङ्गराज महाराज रोम पाद को भी उन्होंने कृपाभरी दृष्टि से देखा। कुछ काल राजा का आतिथ्य स्वीकार करके पुत्र को वहीं छोडकर मुनि तपस्या करने वन को चले गये।

इतने यशस्वी, तपस्वी, संयमी, सरल जामाता पाकर राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। कुछ काल मे शान्ता ने एक पुत्र रत्न को जन्म दिया। इससे सम्पूर्ण राज्य मे आनन्द छा गया।

एक दिन शान्ता ने अपने सर्वसमर्थ पति से कहा—"प्राण नाथ! मुझे आपके अनुग्रह से सभी प्रकार के सुख हैं, किन्तु मेरे कोई भाई नहीं है। इससे मेरे माता पिता भी दुखी रहते हैं और मुझे भी बडी चिन्ता रहती है। आप कोई ऐसा उपाय करे कि मेरे एक भाई हो जाय।"

मुनि ऋष्यशृङ्ग ने कहा—"मैंने विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके वेदाध्ययन किया है। मैं पुत्र के निमित्त महाराज

को पुत्रेष्टि यज्ञ कराऊँगा, जिसके प्रधान देवता इन्द्र होंगे। वे अवश्य ही महाराज को पुत्र प्रदान करेंगे।"

यह सुनकर शान्ता के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उसने यह सूचना अपनी माता तथा पिता को दी। राजा ने और भी बहुत से वेदज्ञ ब्राह्मणों को बुलाकर यज्ञ की सम्पूर्ण तैयारियाँ कीं। बड़ी धूमधाम से यज्ञ हुआ। उस यज्ञ का तत्काल ही फल भी मिल गया। इन्द्र ने प्रसन्न होकर राजा को पुत्रवान् होने का आशीर्वाद दिया। महारानी गर्भवती हुईं और नियत समय पर उन्होंने एक पुत्र-रत्न को प्रसव किया। राजा ने उस कुमार का नाम चतुरङ्ग रखा। कुमार चतुरङ्ग शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगा।

इधर जब अयोध्याधिप महाराज दशरथ ने यह बात सुनी कि मेरी पुत्री शान्ता के पति पुत्रेष्टि यज्ञ कराने में बड़े निपुण हैं, तब वे भी अनुनय-विनय करके शान्ता सहित ऋष्यशृङ्ग को अपने यहाँ ले आये। राजा के आग्रह से महामुनि वशिष्ठ की सम्मति से महाराज दशरथ को भी ऋष्यशृङ्ग मुनि ने पुत्रेष्टि यज्ञ कराया, जिसके फल स्वरूप उनके अवध-कुल-मण्डन कौशल्यानन्द-वर्द्धन रघुनन्दन श्री राघवेन्द्र का, प्रेम के साकार रूप श्री भरतजी का तथा सुमित्रा-नन्द-वर्द्धन लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी का जन्म हुआ।

मुनिवर ऋष्यशृङ्ग ने जब देखा कि शान्ता के भी पुत्र हो गया है, तब वे राजा से अनुमति लेकर पुनः वन में चले गये। अब वे अङ्गदेश को छोड़कर गंगा-किनारे कान्यकुब्ज देश में आकर रहने लगे। शान्ता भी राजभवनों को छोड़कर उनके साथ ही रही और सब प्रकार उनकी सेवा करती रही। मुनि ऋष्यशृङ्ग का आश्रम कान्यकुब्ज देश में गंगा-तट पर (फर्रुखाबाद जिले के शृङ्गी रामपुर में) अब भी विद्यमान है, जहाँ बड़ा भारी मेला लगता है।

इस प्रकार महाराज रोमपाद की पुत्री का विवाह महामुनि ऋष्यशृङ्ग मुनि के साथ हुआ। महाराज के पुत्र चतुरङ्ग बड़े ही धर्मात्मा तथा गुणग्राही थे। उनके पुत्र का नाम था पृथुलाक्ष, पृथुलाक्ष के पुत्र वृहद्रथ, वृहद्कर्मा तथा वृहद्भानु—ये तीन पुत्र हुए। उनमें सबसे बड़े वृहद्रथ के पुत्र वृहन्मना हुए। उनके जयद्रथ, जयद्रथ को सम्भूति नाम्नो भार्या से विजय नामक पुत्र हुआ। विजय के धृति, धृति के धृतव्रत, उनके सत्कर्मा और महाराज सत्कर्मा के ही पुत्र सूतराज अधिरथ हुए।

महाराज अधिरथ के कोई पुत्र नहीं था। एक दिन वे गंगाजी में स्नान कर रहे थे, कि उन्हे गंगाजी के प्रवाह में एक पेटी वहती हुई दिखाई दो। मल्लाहों से उन्होंने उस पेटी को निकलवाया। उसमें एक वड़ा ही सुन्दर वालक था। देवकुमार के समान उसकी आभा थो, कानों में उसके स्वाभाविक दिव्य कुण्डल थे। राजा उसे अपने घर ले आये और उसे अपना पुत्र मानकर उसका पालन-पोषण करने लगे। ये कन्यावस्था मे कुन्ती के गर्भ से सूर्य भगवान् द्वारा उत्पन्न कानीन पुत्र थे। राजा ने उसे अपना पुत्र मान लिया। अपनी पत्नी राधा को उसे दिया। इसीलिये कुन्ती-पुत्र कर्ण राधेय कहलाये। पीछे अधिरथ के और भी पुत्र हुए। पृथ्वीपति कर्ण के भी बहुत से पुत्र हुए, जिनमे वृषसेन मुख्य थे। पीछे इनका और भी वंश-विस्तार हुआ, उसे कहाँ तक बतावें। वंगाल, उड़ीसा तथा मिथिला मे अब भी बहुत से कर्णवंशीय कायस्थ हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार अत्यन्त ही संक्षेप मे मैंने यह महाराज ययाति के चतुर्थ पुत्र अनु के वंश का वर्णन किया। अब आप उनके तृतीय पुत्र द्रुह्यु के वंश का अत्यन्त संक्षेप मे वर्णन सुने।"

छप्पय

ऋष्यश्रृङ्ग मुनि गृही बने बहु मख करवाये।
दशरथ अरु नृप रोमपाद जिन तैं सुत पाये॥
रोमपाद के भये पुत्र चतुरंग अमानी।
दशवा पीढी भये कर्ण कुन्ती तैं दानी॥
सुत ययाति अनु-वंश महँ, भये धर्मयुत भूप सब।
कह्यो वंश अनु-पुरु को, सुनो द्रुह्यु को वंश अब॥

द्रुह्यु और तुर्वसु के वंशज

(८०२)

द्रुह्योश्च तनयो बभ्रुः सेतुस्तस्यात्मजस्ततः ।
आरब्धस्तस्य गान्धारस्तस्य धर्मसुतो धृतः ॥
(श्रीभा० ९ स्क० २३ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

नृपति द्रुह्यु सुत बभ्रु बभ्रु सुत सेतु जिनहु तैं ।
सेतु-पुत्र आरब्ध भये गान्धार तिनहु तैं ॥
चौथी पीढ़ी माँहि प्रचेता भये शक्ति युत ।
तिन तैं अति बलवान भये तेजस्वी शत सुत ॥
उत्तर दिशि के भूप ये, म्लेच्छनि के राजा विदित ।
अब तुर्वसु को सुनहु कुल, जो ययाति के द्वितिय सुत ॥

जिस कुल में एक भगवद् भक्त हो जाता है, वह अपने वंशके सात पहली, सात पाछे की और सात मातृकुल की पाढियों को तार देता है। यदि किसी कुल मे भक्त भावन भगवान् वासुदेव प्रकट हो जायँ, तो उस कुल के सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या! वह सम्पूर्ण कुल धन्य हो जाता है। सूर्य वश की इतनी महिमा क्यों है? इसलिये कि उसमें रविकुल तिलक श्रीराघव ने अवतार ग्रहण किया। अजन्मा होने पर भी उन्होंने सूर्य वंश मे जन्म

१—श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन्! ययाति-पुत्र द्रुह्यु के पुत्र बभ्रु हुए। उनके सेतु, सेतु से आरब्ध का जन्म हुआ। आरब्ध के पुत्र गान्धार उनके धर्म और धर्म के पुत्र धृत हुए।"

लिया,इसीलिये वह कुल परमपावन बन गया है। इसी प्रकार चन्द्र वंश की बात है। यद्यपि चन्द्र-वंश में एक से एक शूरवीर, यशस्वी, प्रतापी राजा हुए हैं, किन्तु फिर भी वे सब मरणधर्मा थे। इस वंश का महत्त्व तो यादवेन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् के अवतार के कारण ही हुआ। महाराज ययाति के ज्येष्ठ पुत्र महाराज यदु यद्यपि पिता के शाप से क्षत्रियत्व से हीन हो गये थे, किन्तु भगवान् के अवतार ले लेने से देवताओं के लिये भी वह कुल परम वन्दनीय बन गया। भगवान् के सम्बन्ध से और सब भाइयों के कुल भी कीर्तनीय बन गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने महाराज ययाति के पंचम और चतुर्थ पुत्र पुरु और अनु के वंशों को कहा, अब अत्यन्त ही संक्षेप में उनके तृतीय पुत्र द्रुह्यु के कुल को कहता हूँ। ये हिमालय के इस पार उस पार देशों के अनार्य म्लेच्छ देशों (पहाड़ी, तिब्बती, काबुल, कंधार, रूस, चीन, जापान) के राजा हुए। वर्णाश्रमी देशों की सीमा से बाहर होने से ये संस्कार-हीन हो गये। म्लेच्छों के संसर्ग से उनके साथ विवाह आदि सम्बन्ध करने से ये भी म्लेच्छप्राय हो गये। अतः इनके कुल के कुछ ही राजाओं का केवल नाममात्र कहता हूँ।

महाराज द्रुह्यु के पुत्र बभ्रु हुए। उनके सेतु, सेतु के आरब्ध, आरब्ध के ही पुत्र गान्धार हुए, जिन्होंने अपने नाम से गान्धार (काबुल-कंधार) देश को प्रसिद्ध किया। इस देश मे फल बहुत होते हैं। वहाँ के अनार तो बहुत ही प्रसिद्ध हैं। इस देश के अश्व भी नामी होते हैं। महाराज गान्धार के पुत्र धर्म हुए, धर्म के धृत, उनके दुर्मना और दुर्मना के पुत्र प्रचेता हुए। प्रचेता के सौ पुत्र परम पराक्रमी हुए। ये पहाड़ों और समुद्रों को पार करके बड़े-बड़े टापुओं में गये और वहाँ इन्होंने अपने उपनिवेश बनाये।

द्विजो से दूर रहने से तथा शीतप्राय प्रदेशों मे रहने से इनके रंग-रूप भी बदल गये और ये संस्कार हीन हो गये। यद्यपि इनके ये सभी देश प्राचीन मान चित्र के अनुसार भारतवर्ष में ही हैं, परन्तु पीछे भारतवर्ष उतने मे ही रहा, जितने मे वर्णाश्रमी आर्य निवास करते हैं, अर्थात् हिमालय से कन्याकुमारी तक, अटक नदी से कटक (जगन्नाथ पुरी) तक। पीछे चलकर गान्धार देश भी भारत से निकल गया। अब भारत के कुछ प्रान्त यवनाधिक्य के कारण अपने को भारत से पृथक् करने लगे हैं। इस प्रकार काल-क्रम से भारतवर्ष की सीमा संकुचित होती जाती है। ये मैंने ययाति पुत्र द्रुह्यु के वंश का वर्णन किया। इस प्रकार शर्मिष्ठा से उत्पन्न महाराज ययाति के तीनों पुत्रों के वंश मैंने कहे। अब देवयानी से उत्पन्न महाराज ययाति के द्वितीय पुत्र तुर्वसु के वंश को श्रवण करें।

महाराज तुर्वसु के पुत्र वह्नि हुए, वह्नि के पुत्र भर्ग और भर्ग से भानुमान का जन्म हुआ। भानुमान के पुत्र त्रिभानु हुए। इन महाराज त्रिभानु के पुत्र परम यशस्वी उदार बुद्धि महाराज करन्धम हुए। इन करन्धम के ही पुत्र मरुत हुए, जिन्होंने इतना भारी यज्ञ किया कि उसके समान ऐश्वर्यशाली यज्ञ कोई भी राजा आज तक नहीं कर सका। ये महाराज मरुत पुत्रहीन थे, इन्होंने पुरुवंशीय दुष्यन्त को अपना पुत्र मान लिया था। उनके पहिले, पिता के दूसरा कोई पुत्र नहीं था, अतः ये राज्य लोभ से पुनः पुरु के ही वंश में मिल गये। पीछे इनका वंश चला या नहीं, इसका कुछ पता नहीं चलता।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—सूतजी! अब [illegible] न चले, सच्ची बात तो यह है कि हम वंशावली को [illegible] हम तो ऊब गये हैं। बीच-बीच में जो आप सुन्दर [illegible]

हर आख्यान यह देते हैं, उनमें तो मन लग जाता है; किन्तु इसके ये हुए उसके ये हुए, इन बातों को हम आपके कहने से कड़वी औषधियों के समान आँख मूँदकर पान करते जाते हैं। अब आपने राजर्षि ययातिके चार पुत्रों की वंशावली तो कह ही दी। यह हम मानते हैं कि आपने उसे अपनी ओर से बहुत ही संक्षेप में कही, किन्तु जो कुछ कहा है, पर्याप्त है। अब आप महाराज ययाति के जेष्ठ श्रेष्ठ पुत्र यदु के वंश का वर्णन करें। इसमें भी जो बहुत मुख्य मुख्य, प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजा हुए हों, उनका ही वर्णन करें। अब कृष्ण कथा कहिये, नन्द-नन्दन की कमनीय क्रीड़ा सुनाइये। भगवान् के व्रज की, मथुरा तथा द्वारका की श्रुत मधुर लीलाओं को सुनाइये, कर्णों की सार्थकता इसी में है। उसी कृष्ण-कथा के लोभ से हम धैर्य के साथ आप की ये कथायें सुनते आ रहे हैं, किन्तु वह तो वस्तु ही और है। उसे ही कहिये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज ! अब मैं महाराज यदु के ही वंश का वर्णन करूँगा। तनिक और धैर्य धारण करें। फिर तो रस ही रस है। फिर छिलका-गुठली का काम नहीं।"

छप्पय

तुर्वसुके सुत वह्नि वह्नि के भर्ग भूमिपति।
भानुमान तिनि तनय त्रिभानु हु तिनि सुत दृढमति॥
नृप त्रिभानु के तनय करन्धम भूप मनस्वी।
मरुत नृपति तिनि पुत्र यज्ञ करि भये यशस्वी॥
पुरुवंशी दुष्यन्त कूँ, गोद लयो परि लोभवश।
निजकुल महँ पुनि मिलि गयो, बढ्यो न पुनि तिनि वंशयश॥

यदुवंश-वर्णन

(८०३)

ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्यं यदोर्वंशं नरर्षभ ।
वर्णयामि महापुण्य सर्वपापहरं नृणाम् ॥
यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
यत्रावतीर्णो भगवान् परमात्मा नराकृतिः ॥
(श्रीभा० ९ स्क० २३ अ० १८ १९ श्लो०)

छप्पय

यदुनन्दन के पाद पद्म महँ शीश नवाऊँ ।
अब ययाति के ज्येष्ठ पुत्र यदु वंश सुनाऊँ ॥
भये चारि यदु पुत्र सहसजित् , क्रोष्टा,रिपु नल ।
नृप सहस्रजित पुत्र भये शतजितहु अमित बल ॥
सतजित के सुत महाहय, हैहय दूसर वेणुहय ।
हैहय कुल बलवान अति, करी जिननि दश दिशि विजय ॥

भगवान् का अवतार जिस कुलमें हो, वह अत्यन्त पावन और सर्वश्रेष्ठ है । महाराज भगीरथ अपने तपोबल से श्री गङ्गाजी को भूतल पर लाये थे, किन्तु उसमे महाराजसगर, असमजस, अशुमान्

१—श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित से कह रहे हैं—"राजन् ! अब मैं महाराज ययाति के ज्येष्ठ पुत्र यदु के वश का वर्णन करता हूँ, जो महापुण्यप्रद है और मनुष्यों के सभी पापों को हरनेवाला है । मनुष्य यदुवश वर्णन सुनकर सभी पापों से मुक्त हो जाता है, क्योंकि इसी वंश में नराकृति भगवान परमात्मा अवतीर्ण हुए थे ।

तथा दिलीप का भी तप और श्रम सम्मिलित था। पाँचवीं पीढ़ी मे आकर भगवती त्रिपथगामिनी गंगा प्रसन्न हुई तथा भक्तवर भगीरथ के पीछे पीछे चली आई। इसीलिये उनका नाम भागीरथी पड़ा। इसी प्रकार यह सत्य है कि श्री देवकी, वसुदेव तथा नन्द-यशोदा के पुण्य-प्रभाव से प्रभु का प्राकट्य हुआ, किन्तु इसमे यदुवंश के समस्त राजाओं का भी पुण्य सम्मिलित है। वैसे प्रभु का प्राकट्य किसी साधन से या पुण्यों से नहीं हो सकता। वे स्वयं ही कृपा करके जिस कुल को पावन करना चाहें, जिस वंश को बड़ाई देना चाहे, उसी में प्रकट होंगे। उन्हे कोई साधनों द्वारा नहीं बाँध सकता। वे तो प्रेम की रस्सी मे बँधकर नाच सकते हैं। इस अट्ठाईसवें द्वापर के अन्त मे उन्होंने यदुकुल पर कृपा की। अतः अब यदुकुल की कथा कही जाती है।

सूतजी कहते है—"मुनियो! अब मैं महाराज ययाति के ज्येष्ठ-श्रेष्ठ पुत्र शुक्रनन्दिनी भगवती देवयानी के गर्भ से सर्वप्रथम उत्पन्न—महाराज यदु के वंश का वर्णन करता हूँ। जिस वंश में अजन्मा भगवान् वासुदेव ने नर रूप से अवतार धारण किया था।

महाराज ययाति के देवयानी से जिस प्रकार यदु का जन्म हुआ और जिस प्रकार पिताकी वृद्धावस्था न लेने से वे राजत्व से भ्रष्ट कर दिये गये, इन सब प्रसंगों को मैं महाराज ययाति के चरित मे कह ही चुका हूँ। अब उनके आगे के वंश को सुनिये। महाराज यदु के चार पुत्र हुए, मानो चारों पुरुषार्थ, चारों वेद, चारों वर्ण तथा आश्रम मूर्तिमान होकर उत्पन्न हुए हो। उनके नाम सहस्रजित, क्रोष्टा, नल तथा रिपु थे। इनमें से सहस्रजित और क्रोष्टा के वंशों का वर्णन करता हूँ।

सहस्रजित के पुत्र शतजित हुए। इन महाराज शतजित के तीन पुत्र हुए—पहले महाहय दूसरे वेणुहय और तीसरे हैहय। इन

सबमें सबसे छोटे तीसरे हैहय बड़े पराक्रमी तथा प्रभावशाली थे। इनके नाम से हैहय-वंश चला तथा हैहय वंशी क्षत्रिय बड़े बली समझे जाने लगे। महाराज हैहय के पुत्र धर्म हुए, उनसे नेत्र हुए। नेत्र के पुत्र कुन्ती हुए, कुन्ती के सोहञ्जि और सोहञ्जि के ही परम यशस्वी महाराज महिष्मान हुए, जिन्होंने नर्मदा-किनारे अपने नाम से महिष्मतीपुरी बसाई, जिसे वे अपनी राजधानी बनाकर सुखपूर्वक राज्य करने लगे। महाराज महिष्मान के पुत्र भद्रसेन हुए और उनके धनक नामक सुत हुए। महाराज धनक के पाँच पुत्र हुए, जिनके नाम दुर्मद, कृतवीर्य, कृताग्नि, कृतवर्मा और कृतौजा थे। इन पाँचों में महाराज कृतवीर्य बल, बुद्धि और पराक्रम में, यश तथा ख्याति में सर्वश्रेष्ठ हुए। इन्हीं के पुत्र सहस्रार्जुन थे, जो कृतवीर्य के पुत्र होने से कार्तवीर्य के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। ये कार्तवीर्य सहस्रार्जुन चक्रवर्ती राजा थे। पृथ्वी पर उस समय इनके समान बली कोई भी राजा नहीं था। सूर्य-वंश तथा चन्द्रवंश के सभी राजाओंको हराकर इन्होंने सप्तद्वीपवर्ती समस्त वसुन्धरा का एकाकी ही उपभोग किया। उस समय इन पृथ्वीपति की समता कोई भी राजा यज्ञ, दान, तप, योग, विद्या तथा वीर्य में नहीं कर सकता था। जहाँ भी ये युद्ध करते, वहीं विजय प्राप्त करते। ये न कभी बूढ़े हुए और न इनका कभी बल ही घटा। इनका धन-ऐश्वर्य तो कभी कम होता ही नहीं था। पचासी हजार वर्षों तक ये समस्त इन्द्रियों के भोगों को अव्याहत गति से भोगते रहे। उस समय ये ही एकमात्र चक्रवर्ती राजा थे।"

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यदुवंशीय राजाओं को तो ययाति के शाप से चक्रवर्ती के सिंहासन पर बैठने का अधिकार ही नहीं था। फिर ये समस्त पृथ्वी के एकछत्र सम्राट् कैसे हो गये?"

यह सुनकर सूतजी बोले--"महाराज ! शाप-पाप बलवानों का कुछ नहीं कर सकता। जिन पर भगवान् की कृपा हो जाती है, उनके सभी शाप समाप्त हो जाते हैं। शाप तो इनके कुल के मनुष्य ने ही दिया था न ? भगवान् के अंशावतार अवधूत भगवान् दत्तात्रेय की इन्होंने बड़े मनोयोग से सेवा की। अत्यधिक सेवा शुश्रूषा करके इन्होंने दत्त भगवान् को प्रसन्न किया और उनसे योग-विद्या तथा समस्त अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त कीं। दत्त भगवान् की कृपा से ही इन्होंने एक सहस्र बाहुओं को प्राप्त किया। दत्त भगवान् ने इन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा था—"भगवान् को छोड़कर और कोई भी क्षत्रिय तुम्हें युद्ध में परास्त नहीं कर सकता। सर्वत्र तुम्हारी विजय ही होगी।" इसी कारण ये जिस राजा पर चढ़ाई करते, उसी को इनके सामने घुटने टेकने पड़ते। कोई इनके सम्मुख खड़ा होने का साहस ही नहीं करता था। अन्त में भगवान् ने परशुराम रूप में प्रकट होकर इनका वध किया। ये कार्तवीर्य सहस्रार्जुन भी भगवान् के कलावतार माने जाते हैं। पुराणों में इनकी उपासना की विधि है और इनके नाम की गायत्री भी है। इनका प्रसङ्ग भगवान् परशुराम के चरित-प्रसङ्ग में आ ही चुका है, अतः उसे पुनः कहने की आवश्यकता नहीं। उन दिनों पृथ्वी के समस्त क्षत्रिय मद में भर गये थे। वे विद्वान् ब्राह्मणों का अपमान करने लगे, अपने सम्मुख किसी को कुछ समझते ही नहीं थे। इन महाराज सहस्रार्जुन को योग का भी बल था, अष्ट सिद्धियाँ भी प्राप्त थीं। शरीर में भी अमित पराक्रम था। ये सप्त द्वीपवती पृथ्वी के चक्रवर्ती सम्राट् तो थे ही। इनके महाबलशाली एक सहस्र पुत्र भी थे। इन सब वस्तुओं के होने से महाराज का दर्प आवश्यकता से अधिक बढ़ गया। उसी दर्प में इन्होंने परशुरामजी के पिता

महर्षि जमदग्नि की यज्ञीय कामधेनु हर ली। इस पर क्रोध करके परशुरामजी ने इन्हें मार डाला तथा इनके सभी पुत्रों को भी यमपुर पठा दिया। सहस्र पुत्रों में से भागकर केवल पाँच जीवित रहे। इनके नाम जयध्वज, शूरसेन, वृषभ, मधु और ऊर्जित थे। इनसे ही आगे यदु-वंश की वृद्धि हुई।

इन पाँचों में सबसे बड़े महाराज जयध्वज के तालजंघ नामक बड़े ही प्रभावशाली और वली पुत्र हुए। उनके सौ पुत्र हुए। वे सब के सब तालजंघीय क्षत्रिय कहलाय।

जिन दिनों ये तालजंघीय क्षत्रिय थे, उन दिनो अयोध्या में सूर्य-वंशीय महाराज बाहुक राज्य करते थे। इन सबने अवध पर चढ़ाई करदी और अवध के राज्य को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। महाराज बाहुक अपनी रानियों सहित वन मे जाकर और्व मुनि के आश्रम मे रहने लगे। ये अपनी रानी को गर्भवती छोड़कर मर गये। पीछे रानी के गर्भ से चक्रवर्ती महाराज सगर का जन्म हुआ। समर्थ होने पर उन्होंने सैन्य-संग्रह करके तालजंघों पर चढ़ाई की। उसमे बहुत से तालजंघ मारे गये। उनकी सहायता मे यवन, शक, हैहय तथा बर्बर जाति के जो लोग आये थे, उन सब को भी महाराज सगर ने परास्त किया। वे सब सगर के भय से भयभीत होकर उनके गुरु भगवान् और्व के समीप गये। गुरु ने सगर से उन्हें प्राणदान देने को कहा। महाराज सगर ने उन्हें मारा तो नहीं, किन्तु उस समय की प्रथाके अनुसार उन्हे वेदवाह्य कर दिया, वर्णाश्रमधर्म से पृथक् कर दिया। उनःसबके ये ऐसे-ऐसे विचित्र वेश बना दिये, जो दूर से पहचाने जा सकें, कि ये अवर्णाश्रमी वेदवाह्य अनार्य हैं। तालजंघ के सौ पुत्रो में से जो सबसे बड़े थे, उनका नाम वीतिहोत्र था। प्रतीत होता है, महाराज सगर

ने उन्हे वेदबाह्य न करके उनका पैतृक राज्य दे दिया था। उन्हें वीतिहोत्र के पुत्र महायशस्वी महाराज मधु हुए, जिनके कारण यदुवंशी यादवों की माधव या मधुवंशी संज्ञा हुई। इन मधु के भी सौ पुत्र हुए। इन सौ में वृष्णि सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ थे। इन वृष्णिके नाम से यादव वार्ष्णेय या वृष्णि वंशी बोले जाते हैं। यदु, मधु और वृष्णि—ये इस कुलमें तीनों परम कीर्तिमान हुए हैं। इसीसे इस वंशवाले यादव माधव तथा वार्ष्णेय बोले जाते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने महाराज यदु के जेष्ठ पुत्र सहस्त्रजित के वंश के मुख्य-मुख्य राजाओं के नाम बताये। अब मैं महाराज के द्वितीय पुत्र क्रोष्टा के वंश का वर्णन करूँगा। उसे आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

हैहय नृप तैं भये आठवां पीढ़ी अर्जुन।
कार्तवीर्य अति बली सहस भुज, सिद्ध सर्वगुन॥
दत्तकृपा तैं सिद्धि सहस सुत सब सुख पाये।
परशुराम तैं सुतनि सङ्ग मरि स्वर्ग सिधाये॥
सहसनि महँ तैं पाँच सुत, बचे जयध्वज, मधु, वृषभ।
सूरसेन ऊर्जित नृपति, सुनहु जयध्वज कुल ऋषभ॥

———

महायोगी महाभोगी महाराज शशविन्दु

श्वाहिस्ततो रुशेकुर्वै तस्य चित्ररथस्ततः ।
शशविन्दुर्महायोगी महाभोजो महानभूत् ॥१

(श्री० ९ स्क० २३ अ० ३१ श्लो०)

छप्पय

तालजङ्घ तिनि पुत्र भये तिनि के हू शत सुत ।
वीतिहोत्र ही बचे शेष लरि मरे शक्तियुत ॥
वीतिहोत्र के पुत्र भये मधु वृष्णि भये तिनि ।
माधव अरु वार्ष्णेय नाम तैं, पालहिं देशनि ॥
क्रोष्टा यदु के द्वितिय सुत, वृजिनवान् तिनिके तनय ।
वृजिनवान् के वंश कूँ, सुनहु विप्रगन है सदय ॥

कलिकाल रूपी दावानल ने योग, ज्ञान तथा सिद्धियों को भस्म सा कर दिया है। इसीलिये कलियुग में योगी, ज्ञानी, सिद्ध तथा शक्तिमान पुरुष दिखाई नहीं देते। इसीलिये कलियुगी क्षुद्र बुद्धिवाले लोगों को योग की सिद्धियों पर सहसा विश्वास नहीं होता। अमुक ऋषि ने दश सहस्र वर्षों तक तप किया, अमुक राजर्षि ने पचासी हजार वर्षों तक राज्य किया, ये सब बातें

१—श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! यदु पुत्र क्रोष्टु के वृजिनवान् नामक पुत्र से श्वाहि का जन्म हुआ। श्वाहि के सुतरुशेकु हुए और रुशेकु के चित्ररथ। इन्हीं चित्ररथ से महायोगी, महाभोगी, महान ऐश्वर्यशाली महाराज शशविन्दु का जन्म हुआ।"

चंडूखाने की गप समझी जाती हैं। किन्तु ये बातें असत्य नहीं, अक्षर सत्य हैं। हम में श्रद्धा और विश्वास की कमी है। मनुष्य जो चाहे, सो कर सकता है। उसमें योग की अनन्त शक्तियाँ हैं। उसमें असम्भव के लिये स्थान नहीं, सभी कुछ सम्भव है। असम्भव यदि कुछ हो सकती है, तो यही बात है, कि अविश्वासी पण्डित मानी मूर्खों पर विश्वास करना। श्रद्धा के सम्मुख, विश्वास के आगे कुछ भी असम्भव नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने अत्यन्त ही संक्षेप में महाराज यदु के प्रथम पुत्र सहस्रजित् के कुछ वंशों का वर्णन किया। अब आप उनके द्वितीय पुत्र महाराज क्रोष्टा के वंश को श्रवण करें। महाराज क्रोष्टा के पुत्र वृजिनवान् हुए। उनके पुत्र श्वाहि हुए, श्वाहि के रुशेकु,उनके चित्ररथ और महाराज चित्ररथ के परमयोगी, परम सामर्थ्यवान, विषयों को अव्याहित गति से भोगनेवाले, राजराजेश्वर, परम ऐश्वर्यशाली महाराज शशबिन्दु हुए। आप उनके ऐश्वर्य और विषय भोगों की बात सुनें, तो आश्चर्य-चकित हो जायँ। पृथ्वी पर रहकर मनुष्य न इतना ऐश्वर्यशाली ही हो सकता है, और न इतने भोगों को ही भोग सकता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज शशबिन्दु कितने ऐश्वर्यशाली थे? इनके ऐश्वर्य का कुछ वर्णन तो करें।"

सूतजी बोले—"महाराज! मैं क्या वर्णन करूँ! आप यही समझें कि पृथ्वी पर चौदह महारत्न माने गये हैं, अर्थात् हाथी, घोड़ा, रथ, स्त्री, बाण, कोष, माला, वस्त्र, शक्ति, पाश, मणि, छत्र और विमान—इनकी महारत्न संज्ञा है। ये सभी रत्न इनके यहाँ अगणित और असंख्य थे। हाथियों की गणना नहीं की जा सकती थी। इसी प्रकार हय तथा रथों की बात थी। इनके

पास सभी दिव्य वाण थे। इनके पास कितना सुवर्ण था, इसकी कोई थाह नहीं, गणना नहीं। इनकी मालायें देवताओं के समान दिव्य थीं, वे न कभी कुम्हलाती थीं, न सूखती थीं। इनके पास दिव्य वस्त्र थे, जो कभी न मैले होते थे, न जीर्ण हो। शक्ति और पाम भी इनके अलौकिक थे। मणि माणिक्यों से तो कोठे भर रहते थे। इनका छत्र दिव्य था जो सब ऋतुओं में अनुकूल हो जाता था। इनके पास असंख्य विमान थे, जो आकाश में मँडराते रहते थे। इन सभी महारत्नों में स्त्री रत्न को सर्वश्रेष्ठ बताया है। दश सहस्र इनके रानियाँ थीं, जो एक-से एक रूप वती तथा सौंदर्य में स्वर्गीय ललनाओं को भी तिरस्कृत करने वाली थीं।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—'सूतजी! यह तो बड़े आश्चर्य की बात है। एक पुरुष दश सहस्र स्त्रियों का पति कैसे हो सकता है।"

यह सुनकर सूतजी बोले—'महाराज! मैं बार-बार कह चुका हूँ। सृष्टि में असंभव कुछ नहीं। हमारी बुद्धि पर परदा पड़ गया है। हमने अपने अन्तःकरण को इतना संकुचित कर लिया है, कि हम अपनी सामर्थ्य के बाहर की बात सोच ही नहीं सकते। हम यह नहीं सोचते कि इस अनन्त ब्रह्माण्डवाले विश्व में हमारे एक ब्रह्माण्ड का उतना भी अस्तित्व नहीं, जितना अनन्त महासागर में एक बिन्दु का। जब इस चतुर्दशभुवनवाले ब्रह्माण्ड की यह दशा है, उसमें एक मनुष्य का अस्तित्व ही क्या। एक कथा है कि इस ब्रह्मांड के ब्रह्माजी रूठ गये। उन्होंने कहा—"मैं सृष्टि न करूँगा। देखें ब्रह्माण्ड का काम कैसे चलता है।"

इतने में ही देखा—बहुत से बड़े बड़े खच्चर लदे हुए चले जा रहे हैं। रूठे हुए ब्रह्माजी ने समीप ही बैठे हुए एक वृद्ध मुनि से

पूछा—"मुनिवर ! ये इतने खच्चर कहाँ जा रहे हैं? इन पर क्या लदा है?"

मुनिने कहा—"हे ब्रह्माजी ! ये खच्चर सम्पूर्ण विश्वमें चक्कर लगाते फिरते हैं। जैसा यह ब्रह्माण्ड है, वैसे असंख्यों ब्रह्माण्ड हैं। उन सभी ब्रह्माण्डों में पृथक् पृथक् ब्रह्मा हैं। किसी के चार मुख हैं, किसी के दश, किसी के सौ, तथा किसी के सहस्र। वे सभी ब्रह्मा इन खच्चरों पर लदे हैं। जिस ब्रह्माण्ड का ब्रह्मा रुठ जाता है, वहाँ इनमें से निकाल कर बिठा दिया जाता है।"

अब तक ब्रह्माजी अपने को ही ब्रह्मा माने बैठे थे। जब उन्होंने असंख्यों ब्रह्माओं की बातें सुनी, तब उनका मोह दूर हुआ और वे फिर सृष्टि के कार्य में लग गये।

वास्तविक बात यही है। गूलर के भीतर का भुनगा समझता है कि संसार इतना ही बड़ा है। जब वह किसी प्रकार भगवदिच्छा से गूलर से बाहर निकलता है, तो उसे आश्चर्य होता है जितने को मैं विश्व ब्रह्माण्ड समझे बैठा था, ऐसे गूलर तो इस पेड़ में असंख्य लगे हैं और पृथ्वी पर ऐसे असंख्यों वृक्ष हैं। इस सृष्टि का कोई वारापार नहीं। योग की शक्ति की कोई सीमा नहीं। महामुनि सौभरि ऋषि ने योगप्रभाव से ही पचास स्त्रियों से विवाह किया और पचास रूप रखकर पृथक् पृथक् सभी के महलों में सदा बने रहते थे। इसी प्रकार महाराज शशबिन्दु दश सहस्र रूप रखकर दश सहस्र रानियों को सन्तुष्ट रखते थे।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"अच्छा, तो सूतजी ! उन उन महायोगी राजर्षि के पुत्र कितने हुए?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज ! पुत्रों का कुछ न पूछिये। आप सुनकर हँसेंगे और इसे भी असंभव बतायेंगे। आप क्या बतायेंगे, कलियुगी जीवों की ओर से कहेंगे, किन्तु भगवन् ! मैं

फिर कहता हूँ, योग के आगे कुछ असम्भव नहीं। योग-प्रभाव से ही विश्वामित्र जी ने नई सृष्टि रच दी। महाराज शशविन्दुकी दशसहस्र रानियों में से प्रत्येक के एक-एक लाख पुत्र हुए अर्थात् महाराज के सब दश करोड सुत हुए।"

यह सुनकर शौनक जी बोले—"अब सूतजी! आपके सम्मुख 'हाँ, तो कहनी ही पड़ेगी, किन्तु यह बात मानवीय बुद्धि में बैठनी असंभव है। एक आदमी के दश करोड़ पुत्र! मान लो, योग प्रभाव से किसी प्रकार अण्डे-बच्चों की भाँति हो भी जायँ, तो वे सब रहेंगे कहाँ! इतना भारी विशाल हमारा यह भारत देश है। इसमें सब स्त्री-बच्चे, बड़े-बूढ़े मिलाकर चालीस करोड़ हैं। फिर भी हम समझते हैं, जनसंख्या बहुत बढ़ गई है। गत अर्ध शताब्दी में दुगुनी हो गई है। जब इतने बड़े देश में ये लोग नहीं समाते, तो एक आदमी के दश करोड़ बेटे कहाँ रहते होंगे?"

सूतजी बोले—"भगवन्! ये सब जडवादियों के विचार हैं, जिनके मत में पञ्चभूतों के संघात से ही स्वतः सृष्टि होने लगती है, जो सृष्टि में चैतन्य की आवश्यकता अनुभव नहीं करते, जो पृथ्वी को, गंगा आदि पवित्र सरिताओं को जड़ समझते हैं। किन्तु, जो पृथ्वी को माता मानते हैं, चैतन्य देवी समझकर उनकी उपासना करते हैं, उनके लिये स्थान की कमी नहीं होती, उनके लिये पृथ्वी चाहे जितनी बड़ी हो सकती है, चाहे जितनी छोटी। जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसा ही फल मिलता है। आँख पर जिस रङ्ग का काँच रख लो, उसी रङ्ग की सब वस्तुएँ दिखाई देती हैं। जो रात्रि दिन यही हिसाब लगाते रहते हैं, कि कितने बीघे जमीन है, इसमें कितना अन्न होता है, कितने लोग बस सकते है, उनको वैसा ही फल मिलता है।

योग के प्रभाव से महाराज शशविन्दु जितना चाहते थे, पृथ्वी को बढ़ा सकते थे, जितना चाहते थे संकुचित कर सकते थे।"

शौनकजी ने कहा—"जब श्रद्धा के ही ऊपर बात है, तब सूतजी! आपकी बात माननी ही पड़ेगी, किन्तु राजा तो योगी थे। वे दश करोड़ तो योगी नहीं थे। उनके वंशज कहाँ रहे ?"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! उन सब का वंश नहीं चला। कोई युद्ध मे मर गये, कोई स्वतः ही लड़ मरे। जैसा भगवान् के पुत्र-पौत्र प्रभास में परस्पर लड़ मरे थे। उन दश करोड़ों में छ ही प्रधान थे, जिनका वंश आगे चला।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! अब आप हमे उमी का वंश सुनाइये, जिसमे भगवान् वासुदेव का जन्म हुआ हो।"

सूतजी बोले—"महाराज ! वही तो मैं सुना रहा हूँ। भगवान् को यदुनन्दन, यादव, यादवेन्द्र, यदु-वंश विभूषण, यादवनाथ कहते हैं। उन्हें माधव, वृष्णि वंशावतंस, वार्ष्णेय तथा वृष्णि कुल-कमल भी कहते हैं। अतः अत्यंत संक्षेप मे मैं इनके कुलवालो के नाम कहूँगा। हाँ तो अब महाराज शशविन्दु के जेष्ठ पुत्र पृथुश्रवा के वंश का वर्णन मैं करता हूँ। पृथुश्रवा के पुत्र धर्म हुए, धर्म के पुत्र उसना हुए, जिन्होने सौ अश्वमेध यज्ञ किये। उशना के पुत्र रुचक और रुचक के पुरुजित्, रुक्म, रुक्मेषु, पृथु और ज्यामघ ये पाँच पुत्र हुए। इनमे सबसे छोटे ज्यामघ अपनी स्त्री के जमूड़ा थे।"

शौनकजी बोले—"जमूड़ा क्या होता है सूतजी ?"

सूतजी हँसकर बोले—"महाराज ! मैं पीछे ही बता चुका हूँ। सम्भव है, आप भूल गये। जो खेल करने वाले जादूगर होते हैं, वे एक लड़का रखते हैं, उससे अपनी इच्छा के अनुसार उसे वश

में करके, जो चाहें कहला लेते हैं। उसी प्रकार वे अपनी स्त्री के वश में थे। स्त्री कहती—"उठ, तो उठते, वह कहती 'बैठ' तो वे बैठते। सारांश स्त्री के संकेत पर वे नाचने वाले थे। अब उन्हीं का चरित सुनिये।"

छप्पय

चौथी पीढ़ी माँहि भये शशविन्दु योगिवर।
भोग, योग, ऐश्वर्य बसहिं जिन महँ गुन सुखकर॥
दश सहस्र तिनि नारि कोटि दश सुत उपजाये।
जिनको वैभव देखि स्वर्गपति इन्द्र लजाये॥
पृथुश्रवा तिनिके तनय, 'धर्म' पुत्र तिन श्रेष्ठतर।
उशना, उशना के तनय, रुचक पञ्च तिनि सुत सुघर॥

❧

शैव्यापति ज्यामघ

(८०५)

पुरुजिद्रुक्मरुक्मेषुपृथुज्यामघसंज्ञिताः ।
ज्यामघस्त्वप्रजोऽप्यन्यां भार्यां शैव्यापतिर्भयात् ॥
(श्रीभा० ९ स्क० २३ अ० ३५ श्लो०)

छप्पय

पुरुजित, पृथु, रुक्मेषु, रुक्म ज्यामघहु रुचकके ।
ज्यामघ छोटे नृपति न सन्तति कोई तिनके ॥
शैव्या नृप की नारि भूप निज वश करि लीन्हीं ।
सन्तति इच्छा रही ब्याह हरि और न कीन्हीं ॥
सीमावर्ती भूप की, कन्या हरि लाये नृपति ।
रथासीन युवती लखी, बोली शैव्या कुपित अति ॥

पति-पत्नी इस गृहस्थी-रूपरथके दो पहिये हैं । दोनों ही अपने-अपने स्थान पर सुन्दर हो,तब तो गृहस्थाका रथ भनभनाता हुआ आनन्द-पूर्वक चलता है, किन्तु जब दोनोंही अपने-अपने कर्तव्य को भूलकर विपरीत आचरण करते हैं, तब रथ रुक जाता है । चलता भी है, तो अत्यन्त कष्ट से । पत्नी घर की स्वामिनी है, पति बाहर का । पत्नी का कार्य-क्षेत्र छोटा, किन्तु महत्त्वपूर्ण है । पति का

१—श्रीशुकदवजी कहते है—"राजन् ! महाराज रुचक के पुरुजित्, रुक्म, रुक्मेषु, पृथु और ज्यामघ—ये पाँच पुत्र थे । ज्यामघकी स्त्री का नाम शैव्या था । यद्यपि वे सन्तान हीन थे, फिर भी स्त्री के भय से उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया ।"

क्षेत्र विस्तृत है, किन्तु उसमें राग, द्वेष, ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा, चिन्ता, आदि हैं। स्त्री गृह का स्वामिनी है, इसलिये उसे गृहिणी कहा गया है। पुरुष को पतन से बचाती है, इसलिये उसकी पत्नी संज्ञा है। पुरुष के सभी कामों मे हाथ बँटाने से उसे अर्धाङ्गिनी कहा है। पत्नी का तथा उससे उत्पन्न सन्तति का पुरुष पालन करता है, इसलिये उसकी पति संज्ञा है, भरण-पोषण करने से उसे भर्ता भी कहते हैं। सत्पत्नी प्रेमपूर्वक व्यवहार करके पति को अपने वश मे कर लेती है। पति पत्नी के प्रेम-पाश मे बँधकर उसके विरुद्ध आचरण नहीं करता। प्रेम के बन्धन मे बड़ा सुख होता है। जो पत्नी प्रेम से नहीं, अभिमान में भरकर पति पर शासन करती है, उसे अपना क्रीड़ा मृग बनाये रहती है, अपनी इच्छानुसार नचाती है और वह पुरुष भी ऐसा नपुन्सक है, कि स्त्री के सामने भीगी बिल्ली बना रहता है, उसके क्रोध को देखकर थर-थर काँपता रहता है, अपने पुरुषत्व के अधिकार को एकदम खो बैठता है, तो उन दोनो का ही पतन होता है। ऐसे पुरुष का नाम है स्त्रीजित्। शास्त्रकारों ने स्त्रीजित् पुरुष को ज्ञान आदि देने का अनधिकारी बताया है। ऐसे पुरुष से संभाषण करना भी उचित नहीं। ऐसी स्त्री के लिये तो कहना ही क्या, वह अपना इहलोक और परलोक—दोनों बिगाड़ रही है। जिस स्त्री का पति प्रेम से नहीं—भय से स्त्री को देखकर थर-थर कांपने लगे, जो स्त्री सदा नौकर और दासो की भाँति उच्चासन पर बैठकर पति को उचित अनुचित आज्ञा देती रहे, उसके सर्वप्रथम तो सन्तान ही न होगी, यदि होगी भी, तो लड़कियाँ होंगी। यदि कदाचित् पुत्र हुआ भी, तो वह पागल, मूर्ख, व्यभिचारी या नपुन्सक होगा। सारांश यह है, कि स्त्रीजित् पुरुष संतति-सुख नहीं भोग सकता। उसका जीवन सर्वदा भय-ग्रस्त बना रहता है।

स्त्रियाँ इस लोक में भी दुःखी रहती हैं और मरकर भी नरकों में जाती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब मैं महाराज रुचक के छोटे पुत्र ज्यामघ का चरित कहता हूँ, जो अपनी बहू के जमूड़ा थे। राजा ज्यामघ की रानी का नाम शैव्या था। वह बड़ी तेज तर्रार थी। पति को वह अपने सम्मुख कुछ समझती ही नहीं थी जैसे मालिक नौकर-चाकरों से वर्ताव करते हैं, वैसे ही वह राजा से वर्ताव करती थी। राजा खड़े हैं, वह पीढ़े पर बैठी है, वहाँ से आज्ञा दे रही है। क्योजी ! तुमने यह काम नहीं किया ?"

राजा भी भोंदू ही था। वह भी डरकर कहता—"महारानी साहब, अपराध हो गया।"

वह और रोष प्रकट करती हुई कहती—"बस, तुमने तो ये ही दो शब्द पढ़े हैं, "अपराध हो गया,अपराध हो गया" अपराध क्यो हो गया ? तुम अन्न नहीं खाते। जिस काम को भी बताती हूं, उसी को टाल-मटोल कर देते हो। अमुक मंत्री को निकाल दो, अमुक को अपने यहाँ रख लो।"

मारे डर के राजा की तो धोती खराब हो जाती। वह जो कहती, उसे विना ननु नच के वे करते। ऐसी स्त्री से सन्तान की क्या आशा हो सकती है। इसीलिये उसके कोई सन्तान नहीं थी। राजा बहुत चाहते थे, कि मेरी इस रानी से तो पुत्र हो। उन्होंने इस कामना से कितने जप, तप, यज्ञ अनुष्ठान कराये। सन्तान की कामना से पितृगण तथा विश्वेदेवों की आराधना भी की, किन्तु सब व्यर्थ हुआ। जैसे बालू से तेल निकलना सम्भव नहीं है, वैसे ही वन्ध्या-स्त्री से सन्तान उत्पन्न होना भी संभव नहीं। "राजा सोचते, यदि मैं दूसरा विवाह कर लूँ, तो संभव है, मेरे सन्तान हो जाय। किन्तु, दूसरा विवाह करूँ कैसे ? यह

तो फिर मुझे घर में भी न रहने देगी। मेरा मुँह काला करके मुझे घर से निकाल देगी।" इन्हीं सब बातों को सोचकर उनका शैव्या के सम्मुख ऐसा प्रस्ताव करने का साहस ही न होता था। शैव्या कब चाहने लगी कि कोई सौत उसकी छाती पर मूँग दलने के लिये आ जाय। इसलिये वह सदा सतर्क रहती। राजा को आने में तनिक भी देर होती, तो वह देर से आने का विवरण पूछती। इस बात की बडी सावधानी रखती, कि राजा किसी दूसरी युवती की ओर न देख सकें, न बातें ही कर सकें। राजा के मनमें तो दूसरा विवाह करने की इच्छा थी। किन्तु, रानी की इच्छा के बिना तो वे पानी भी नहीं पी सकते थे। अतः उनके मन की बात मन मे ही पच गई।

राजा के समीपवर्ती एक दूसरे भोज नामक राजा थे। किसी कारणवश राजा से उनकी शत्रुता हो गयी। राजा ने उनके राज्य पर चढाई कर दी। राजा बडे बली थे। इनकी सैनिक शक्ति भी सुसंगठित थी। राजा ने अपने निकटवर्ती प्रतिस्पर्द्धी राजा को परास्त किया। फिर राजा जब पराजित शत्रु के भवन मे रत्न लेने गये, तब उन्होंने वहाँ एक अत्यन्त सुन्दरी युवती राजकुमारी को देखा। वह महाराज की अत्यन्त ही प्यारी सुकुमारी पुत्री थी। वह विवाह योग्य थी। राजा उसके ऐसे अलौकिक रूपलावण्य को देखकर मुग्ध हो गये और उस कन्या रत्न को अपने रथ पर बिठाकर नगर मे विजय के बाजे बजाते हुए आये।

रानी शैव्या ने जब सुना,मेरे पति शत्रु पर विजय करके आये हैं, तो वह भी द्वार पर सखियो के साथ आयी। राजा के साथ रथ पर एक अत्यन्त सुन्दरी नूतन अवस्थावाली सुकुमारी राजकुमारी को देखकर, वह तो मारे क्रोध के, आग बबूला हो गयी। राजा का स्वागत सत्कार करना तो भूल ही गयी। उन्हे

हुई, क्रोध के स्वर में बोली—"अरे, कपटी ! जो मेरे योग्य स्थान है, वहाँ पर तूने किसे बिठा रखा है ? मेरी छाती पर मूँग दलने के तू यह मेरी सौत कहाँ से ले आया है ?"

कहाँ तो राजा विजय के हर्ष में फूले नहीं समा रहे थे, वे अपनी रानी से प्रशंसा सुनने को उत्सुक थे, कहाँ छूटते ही गालियों से स्वागत होते देख उनकी सिट्टिपिट्टी गुम हो गयी। कहाँ सैकड़ों सैनिकों के मुण्ड उड़ाकर आये थे, कहाँ वे ही राजा एक कारे मुण्डवाली को देखकर थर-थर काँपने लगे। वह एकदम

रथ के आगे खड़ी छाती पर ही चढ़ना चाहती थी, मारे डर के राजा के मुँह से सहसा निकल पड़ा—"रानीजी! यह तुम्हारी सौत नहीं पुत्रवधू है।"

यह सुनकर रानी को और भी क्रोध आ गया। बोला—"तुम सा निर्लज्ज और झूठा पुरुष मैंने तो कोई देखा नहीं। मेरे पुत्र होता, तो मेरी पुत्र वधू होती, मैं तो जन्म की वन्ध्या हूँ। यह भी होता है कि राजाओं के बहुत-सी पत्नियाँ होती है। एक पत्नी का जो पुत्र होता है, उसकी बहू सब की ही पुत्र वधू कही जाती है। सो, मेरे कोई दूसरी सौत भी नहीं। फिर यह मेरी पुत्र वधू कैसे हो सकता है?"

राजा और भी घबरा गये, किन्तु देवताओं ने बात सम्भाल ली। शारदा उनकी जिह्वा पर बैठ गई। लड़खड़ाती वाणी में बोले—"महारानीजी! आप के जो पुत्र होगा, उसी की यह पत्नी होगी।"

मानो राजा की बात का देवताओं और पितरों ने भी अनुमोदन किया। रानी का क्रोध उतर गया। उस लड़की को बड़े यत्न से एक पृथक महल में रखा। उस पर रानी ने कड़ा पहरा लगा दिया, कि और की बात तो पृथक है, राजा भी इसके भीतर न जाने पावे। बेचारी वह लड़की भोज्या बिना अपराध के ही बन्दिनी बन गई। उसे कारावास की भाँति भीतर ही अपने दिन बिताने पड़े।

भाग्य का पता नहीं चलता, जाने कब अस्त हो जाय, कब उदय! हम जिस बात को सम्भव समझते है, वह असम्भव हो जाती है, जिसे सर्वथा असम्भव समझते हैं, वही सम्भव। कुछ ही दिनों के पश्चात् जिस शैव्या को सभी जन्म की वन्ध्या कहते थे, जिससे सन्तान की आशा सर्वथा छोड़ रखी थी, वही गर्भवती

हो गयो। सम्पूर्ण राज्य मे आनन्द छा गया। दशवें महीने उसने एक पुत्र रत्नको प्रसव किया। उसका नाम विदर्भ रखा। आगे चल के य ही विदर्भ बडे प्रभावशाली हुए। इन्होंने (बरार) राज्य की स्थापना की।

हाँ, तो शैव्या अब वन्ध्या नहीं रही। उससे पुत्र हो गया। सबका भाग्य पृथक् पृथक् होता है, भाग्यशाली का भाग्य उससे आगे आगे चलता है। शैव्या के भाग्य में तो पुत्र का मुख देखना नहीं था, किन्तु राजकुमारी भोज्या के भाग्य से उसके पुत्र हो गया। अब भोज्या को आशा हुई—"मुझे जीवन भर कौमार व्रत धारण न करना पड़ेगा। मेरा पति आज उत्पन्न हुआ है, १६ वर्ष के पश्चात् विवाह योग्य भी हो जायगा।" सभी प्राणी आशा के ही सहारे जी रहे हैं। यदि आशा न हो, तो प्राणी इतने कष्ट मे भी प्राणो को क्यो धारण किये रहता"

शनैः शनैः शैव्या का सुत विदर्भ बढने लगा। भोज्या की आशा लता लहलहाने लगी। एक एक दिन करके सोलह वर्ष व्यतीत हो गये। जब कुमार विवाह योग्य हुआ, तो उसके लिये बहू खोजनी न पडी। वह तो पति के जन्म के पहले ही आकर घड़ियाँ गिन रही थी। दूसरा कोई स्वाधीन राजा होता, तो दुगुनी अवस्था की बहू के साथ अपने कुमार का विवाह क्यों होने देता, किन्तु जहाँ एकमात्र स्त्रियों का ही आधिपत्य है, पुरुषों की जहाँ बात पूछी नहीं जाती, वहाँ तो सभी बातें मनमानी ही होती है। शैव्या ने अपने पुत्र का विवाह उसी भोज्या के साथ कर दिया। भोज्या ३२ वर्ष की और विदर्भ अभी १६ वर्ष के। किन्तु, विवाह हो ही गया। महाराज विदर्भ ने भोज्या के गर्भ से तीन पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम कुश, क्रथ और रोमपाद थे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब मैं इन के वंश को

संक्षेप में कहकर वृष्णि-वंशीय और राजाओं का भी चरित कहूंगा।"

छप्पय

युद्धक ! वहाँ तैं सौति पकरि रथ पै बैठाई।
डरिकें बोले भूप - पतोहू रानी ! आई॥
बोली रानी-बन्ध्या हौं क्यों बात बनाओ।
कैसे मेरी होहि पतोहू मर्म बताओ॥
बोले नृप-भावो तनय, बनै बधू वर सुर दियो।
गर्भवती शैव्या भई, सुत विदर्भ पैदा कियो॥
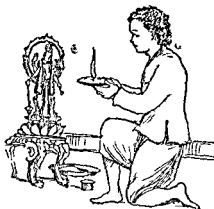
वृष्णिवंशीय वीर

(८०६)

वृष्णोः सुमित्रः पुत्रोऽभूद्युधाजिच्चपरंतप ।
शिनिस्तस्यानमित्रश्च निम्नोऽभूदनमित्रतः १॥

(श्रीभा० ९ स्क० २४ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

कुश, क्रथ, नृपवर रोमपाद तीनों विदर्भ सुत ।
क्रथ की पीढी बीस माँहिं प्रकटे नृप सात्वत ॥
सात्वत के भजमान, दिव्य,भजि, वृष्णि हु अधक ।
देवावृध अरु महाभोज सातों सुत धार्मिक ॥
षष्ठ पुत्र भजमान के, देवावृध के बभ्रु सुत ।
पिता पुत्र दोऊ परम, ज्ञानी, तारक योग युत ॥

पार जाने वाले दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे हैं, जो स्वयं एकाकी ही तर जाते हैं, दूसरे वे होते हैं, जो स्वय तो तरते ही हैं, साथ मे बहुतों को लेकर तरते है । जेसे सर्प, सिंह स्वय अपने बाहुबल से नदी पार हो जाते हैं, किन्तु नौका वाला मल्लाह स्वयं तो नोका-सहित उस पार हो ही जाता है, साथ में बहुत से ऐसे लोगों को भी पार ले जाता है, जो तैरना जानते ही नहीं । सृष्टि में दोनो की ही आवश्यकता है, दोनों ही श्रेष्ठ हैं । अभिमान मे

१—श्रीशुकदेवजी कहते हें— राजन् ! वृष्णि के पुत्र सुमित्र और युधाजित् दो हुए, इनमें युधाजित् स भी शिनि और अनमित्र दो पुत्र हुए । अनमित्र के पुत्र निम्न हुए ।"

भर कर किसी की निन्दा न करनी चाहिये। कोई भक्त कुछ रुपये लेकर एक विरक्त महात्मा के पास गया और बोला—"महाराज! ये रुपये हैं, किसी धर्म कार्य मे लगा दीजिये।" महात्मा ने कहा—"भाई, हम तुम्हारे नौकर तो हैं ही नहीं, जो तुम्हारी बेगार करें। हमे क्या प्रयोजन कि बैठे ठाले व्यर्थ का संकल्प-विकल्प करें। इन रुपयों को अभी उठा ले जाओ।"

भक्त कुछ परीक्षक विचार के थे, वे महात्माओं की परीक्षा किया करते थे। अतः उन रुपयों को लेकर वे एक दूसरे सन्त के पास गये। उनके पास और भी महात्मा थे, आगत पुरुषों का *स्वागत-सत्कार भी करते थे, दुखी लोगों के दुखों की ओर भी* यथाशक्ति ध्यान देते थे। अबके वे भक्त उन्हीं के समीप आये और बोले—"महाराज! इन रुपयों को किसी काम मे लगा दें।" महात्मा ने पूछा—"कितने रुपये हैं?" उसने बताया—"पाँच हजार हैं।" महात्मा बोले—"चार हजार का विद्यार्थियों को एक भवन बनवा दो, एक सहस्र का अन्न लेकर इनके लिये रखवा दो।" अब क्या करते, भक्तजी ने वे रुपये लगा दिये और बोले—"महाराज! मैं उन सन्त के पास गया था। वे तो रुपयों को देखते ही बिगड़ उठे। उन्होने बहुत-सी खरी-खोटी बातें मुझे सुनाईं महाराज! हमें तो वे महात्मा जँचे नहीं। उनकी प्रशंसा लोग व्यर्थ करते हैं।"

महात्मा बोले—"नहीं, भैया! ऐसा मत कहो। हमे शक्ति ऐसे ही त्यागी महात्माओं से मिलती है, वे त्याग का आदर्श उपस्थित करते हैं।"

फिर वे भक्त उन विरक्त महात्मा के पास जाकर बोले—"भगवन्! आपने तो उन रुपयों को तुच्छ समझकर ठुकरा दिया,

किन्तु उन महात्मा ने तो जातेहा उन सबको ले लिया। वे महात्मा हमारी समझ में आये नहीं।"

यह सुनकर वे महात्मा हँस पड़े और बोले—"भाई! देखो, तुमको उनकी निन्दा न करनी चाहिये। हम तो सर्प की भाँति हैं, अकेले रहते हैं, अकेले पार हो सकते है। वे महात्मा तरन-तारन हैं। स्वयं तो वे तरते हो हैं, असंख्यों को तार कर तरते हैं। भगवान् ने उन्हें इन्हीं कार्यों के लिये भेजा है। वे हमसे भी श्रेष्ठ हैं।"

इस प्रसङ्ग के कहने का भाव यही है, कि जो इस असार संसार से स्वयं हो साधनो द्वारा तर जाय, वह सर्वश्रेष्ठ पुरुष है, उसने मानव जीवन को सार्थक बना लिया। किन्तु, उससे भी वे श्रेष्ठ हैं, जो बहुत से पुरुषों को साथ लेकर संसार से पार हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने शैव्यापति महाराज ज्यामघ की कथा आपको सुनाई। उनके पुत्र विदर्भ हुए। विदर्भ के कुश, क्रथ और रोमपाद तीन पुत्र हुए। रोमपाद के वंश में क्रमशः इतने राजा हुए—रोमपाद, बभ्रु, कृति, उशिक और चेदि। चेदि से ही चैद्यादि नृपतिगण हुए। उनका बहुत विस्तार हुआ।

विदर्भनन्दन क्रथ के वंश मे क्रमशः इतने राजा हुए—क्रथ, कुन्ती, धृष्टि, निवृति, दशार्ह, व्योम, जीमूत, विकृति, भीमरथ, नवरथ, दशरथ, शकुनि, करम्भि, देवरात, देवक्षत्र, मधु, कुरुवंश, अनु, पुरुहोत्र, आयु और आयु के पुत्र सात्वत हुए। ये सात्वत बड़े धर्मात्मा यशस्वी और प्रभावशाली हुए। इनके ही कारण यह वंश सात्वत वंश कहलाया। श्रीकृष्ण भगवान् का नाम सात्वतां-पति है। इनके हो सम्बन्ध से प्रसिद्ध हैं।

महाराज सात्वत के सात पुत्र हुए, जिनके नाम भजमान, भजि, दिव्य, वृष्णि, देवावृध, अन्धक, और महाभोज थे। सबसे

बडे भजमान के दो रानियाँ थीं, उनके तीन तीन पुत्र हुए, जिनके नाम निम्लोचि, किङ्किण, धृष्टि शताजित्, सहस्रजित् और अयुताजित् थे।

सात्वत सुत देवावृध तरनतारन थे। इनके पुत्र बभ्रु भी पिता के ही समान महायोगी, परमज्ञानी तथा आचार्य कोटि के हुए। इन दोनो पिता पुत्रों के सम्बन्ध मे एक पौराणिकी सूक्ति प्रसिद्ध है। बहुत से लोग ऐसे होते हैं, कि कहते तो बहुत है, करते कुछ भी नहीं। पहाड दूर से तो देखने मे सुहावना लगता है, किन्तु उसके समीप जाओ, तो झाडझङ्खार, ईट पत्थर ही दिखाई देंगे। दूर से बजते हुए ढोलो को सुनें, तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो वे कितने गम्भीर होंगे, किन्तु उनके समीप जाकर उनकी भीतरी दशा देखो, तो मालूम होगा कि पोल ही पोल है। इसी प्रकार बहुत से लोगो को दूर से तो बहुत प्रशंसा सुनते है, समीप जाने पर उनका निजी जीवन उतना उन्नत दिखाई नहीं देता। बडे बडे लेखकों की कृतियों को पढकर हम अनुभव करते हैं, वे कोई उच्च कोटि के महापुरुष होंगे। जब उनके समीप जाते हैं, तो प्रतीत होता है कि जो वे लिखते हैं, उसे अपने जीवन मे परिणित नहीं कर सकते। उन्हें समझना चाहिये वे एक निर्जीव यन्त्र हैं। कुछ ऐसे होते है कि वे जो कहते हैं, उसे करते भी हैं। जो उनके भीतर है, वही बाहर है, जैसे वे दूर से सुन पड़ते हैं, वैसे ही समीप आने पर दिखाई भी देते हैं। वे ही महापुरुष हैं, वे ही पूजनीय, वन्दनीय तथा आदरणीय हैं। देवावृध और बभ्रु—ये दोनों पिता पुत्र ऐसे ही महापुरुष थे। तभी तो इनके विषय मे यह पौराणिकी-सूक्ति प्रसिद्ध था कि हमने 'जैसा दूर से सुना था, वैसा ही समीप आकर देखा भी। बभ्रु पुरुषो में उत्तम हैं और उनके पिता देवावृध तो देवताओं के ही समान हैं।"

इन दोनों पिता पुत्रों के उपदेश पाकर चौदह सहस्र पैंसठ पुरुष परमपद को प्राप्त हुए। उन्होंने अमृतत्व लाभ किया। इस प्रकार सात्वत पुत्र देवावृध अपने बभ्रु-सुत द्वारा हो अजर-अमर हो गये।

महाराज सात्वत के सुतों में से एक महाभोज भी थे, जिनसे भोजवंशी यादव उत्पन्न हुए। अब सात्वत पुत्र वृष्णि के वंश को सुनिये।

वृष्णि के पुत्र सुमित्र और युधाजित् हुए। इनमें से युधाजित् के दो पुत्र शिनि और अनमित्र हुए। अनमित्र के पुत्र निम्न हुए। निम्न के भी दो पुत्र थे—सत्राजित् और प्रसेन। सत्राजित् की पुत्री सत्यभामा का विवाह श्रीकृष्णचन्द्र के साथ हुआ। ये सब बातें स्यमंतकमणि की कथा के प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण-चरितमें आवेगी। युधाजित् पुत्र अनमित्र के एक और सुत शिनि नामक था। उनके पुत्र सत्यक हुए। सत्यक के युयुधान और सात्यकि थे। सात्यकि के जय, उनके कुणि तथा कुणि के पुत्र युगन्धर हुए। अनमित्र के तीसरे पुत्र वृष्णि थे। उनके पुत्र श्वफल्क और चित्ररथ थे। श्वफल्क बड़े धर्मात्मा थे। महाराज काशिराज के राज्य में वर्षा नहीं होती थी। जब उन्होंने धर्मात्मा श्वफल्क को बुलाकर अपनी पुत्री गान्दिनी का विवाह उनके साथ कर दिया, तब इन्द्र ने वर्षा की। गान्दिनी के गर्भ से अक्रूर, आसङ्ग, सारमेय, मृदुर मृदुवित, गिरि, धर्मवृद्ध, सुकर्मा, क्षेत्रोपेक्ष, अरिमर्दन, शत्रुघ्न, गन्धमाद और प्रतिबाहु—ये तेरह पुत्र हुए, जिनमें अक्रूरजी परम भगवत्भक्त हुए। श्रीकृष्णचरित में इनकी भक्ति का प्रसङ्ग आवेगा ही। अक्रूरजी की एक सुचीरा नाम्नी भगिनी थी, और देववान और उपदेव दो पुत्र थे। और भी सभी भाइयों के बहुत से पुत्र पौत्र थे। उनके वंश का कहाँ तक वर्णन करें।

इनके चाचा चित्ररथ के भी पृथु, विदूरथ, आदि कई पुत्र थे। फिर उनके भी बहुत से पुत्र पौत्र हुए। यादवों के वंश की गणना कर ही कौन सकता है ?

हाँ, तो साधु मावधान! पिछली कथा स्मरण करो। मैं महाराज सात्वत के सातों सुतों का वंश बता रहा था। उनमें से एक पुत्र अन्धक थे। उनके कुकुर, यजमान, शुचि और कम्बलवर्हि नामक चार पुत्र हुए। ये अन्धकवंशी कहलाये। इनमे सबसे बड़े कुकुर थे। इनके वंश मे क्रमशः इतने राजा हुए—कुकुर, वह्नि, विलोमा, कपोत-रोमा, तुम्बुरुसखा अनु, द्वितीय अन्धक, दुन्दुभि, अरिद्योत और पुनर्वसु। महाराज पुनर्वसु के आहुक नामक एक पुत्र तथा आहुकी नाम की पुत्री हुई। आहुक के पुत्र देवक और उग्रसेन हुए। महाराज देवक के देववान् उपदेव, सुदेव और देववर्द्धन ये चार पुत्र हुए।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज देवक के कोई पुत्री भी हुई ?"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज! पुत्री के पीछे ही तो इतनी वंशावली कहनी पड़ी। महाभाग देवक की ही पुत्री देवकी हुई, जिसको आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र की जननी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। देवकीजी के अतिरिक्त भी महाराज! देवकी की धृतदेवा, शान्ति देवा, उपदेवा, श्रीदेवा, देवरक्षिता और सहदेवा ने छ बहनें थीं। इन सातों का विवाह महाराज वसुदेव के साथ हुआ।

महाराज उग्रसेन का विवाह विदर्भ देश के महाराज सत्यकेतु की पुत्री पद्मावती के साथ हुआ। उसके गर्भ से कंसा, कंसवती, कङ्का, शूरभू और राष्ट्रपालिका—ये पाँच पुत्रियाँ थीं, जिनका विवाह वसुदेवजी के छोटे भाइयों के साथ हुआ।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! उग्रसेन के पुत्र भी थे ?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज ! आप सब जानते हैं। ऐसे भोले भाले बनकर प्रश्न करते हैं, मानों कुछ जानते ही नहीं। इन्हीं महाराज उग्रसेन के तो कालनेमि नामक असुर कंस रूप में उत्पन्न हुआ। जिसने यादवों से वैर ठाना, जिसको निमित्त बना कर भगवान् ने अवतार लिया। इस दुष्ट ने यदुवंशियों को बहुत क्लेश दिया। ऐसे क्रूर असुर-पुत्र के कारण महाराज बड़े दुखी रहते थे। कंस जानता था, मैं कालनेमि नामक असुर हूँ, मुझे भगवान् विष्णु ने पूर्वजन्म में मारा था। इसीलिये वह यदुवंशियों और अपने पिता उग्रसेन से द्वेष करता था। वह सबको पीड़ा देता था। इसके अतिरिक्त भी महाराज उग्रसेन के सुनामा, न्यग्रोध, कंकु, शंकु, सुहू, राष्ट्रपाल, सृष्टि और तुष्टमान्—ये आठ पुत्र और थे।"

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! महाराज उग्रसेन तो बड़े धर्मात्मा थे। उनके यहाँ ऐसे क्रूर स्वभाव वाला असुर क्यों उत्पन्न हुआ, जिसने अपने कुलवालों को ही भाँति भाँति के कठिन क्लेश पहुँचाये ?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज ! यह सब मातृ-दोष के कारण ऐसा हुआ। सन्तानों पर माता पिता के स्वभाव और सदाचार का बहुत प्रभाव पड़ता है। पति से पृथक् रहकर स्त्रियों का स्वच्छन्द विहार करना अनर्थ का हेतु होता है। परमार्थ हीन अनार्य जाति तो इस रहस्य को जान ही नहीं सकती। उनके यहाँ शारीरिक सुख ही सब कुछ है। किन्तु जो अध्यात्मवादी हैं, उन्हें तो रजवीर्य की विशुद्धता पर विशेष ध्यान देना चाहिये। पति से पृथक् रहने पर युवती स्त्रियों में चाचल्य बढ़ ही जाता है। उसी का यह प्रभाव हुआ, उग्रसेन जैसे धर्मात्मा राजा के यहाँ

कश जैसा क्रूरकर्मा पुत्र हुआ। इस सम्बन्ध मे एक पौराणिक गाथा है। उसे आपको सुनाकर तब आगे की कथा कहूँगा।"

छप्पय

महाभोज तें भये भोजवशी यादवगन।
वृष्णि-वश वार्ष्णेय कहावैं यदुकुल नन्दन॥
वृष्णि-तनय नृप भये युधाजित् पौत्र वृष्णि पुनि।
सुत श्वफल्क तिनि पुत्र भये अक्रूर सरिस मुनि॥
अन्धक दशमी पीढि महँ, उग्रसेन देवक भगत।
देवक तनया देवकी, उग्रसेन के कंस सुत॥

कलानेमि कंस कैसे हुआ !

(८०७)

आत्मानमिह सञ्जातं जानन्प्राग्विष्णुना हतम् ।
महासुरं कालनेमिं यदुभिः स व्यरुध्यत ॥१॥
(श्रीभा० १० स्क० १ अ० ६८ श्लो०)

छप्पय

नृप विदर्भ की सुता विवाही उग्रसेन कूँ
सुता प्रेम तें नृपति पठाये दूत लेन कूँ ॥
मातु पिता घर जाय भई स्वछन्द दुलारी ।
सखियनि संग सजि फिरै वननि महँ राजकुमारी ॥
मदमाती पद्मावती, विहरति है स्वच्छन्द जहँ ।
धनद दास गोभिल असुर, आयो घूमत फिरत तहँ ॥

विषयों के प्रति प्राणियों का सहज अनुराग है। जो इ
जीव-जगत् का जनक है, वह स्वतन्त्र है। अतः स्वभाव से सभ
स्वतन्त्र होना चाहते हैं। परतन्त्रता मे दुःख और स्वतन्त्रता
सभी को सुख का अनुभव होता है, किन्तु स्वतन्त्रता के सच्चे
सुख का वही अनुभव कर सकता है, जो किसी के बन्धन में रह
चुका हो। जिसने बन्धन का अनुभव नहीं किया, वह विमुक्ति

१—श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! कंस को यह बात विदित थी
कि मैं पूर्वजन्म में महाअसुर कालनेमि नाम का था। उस समय विष्णु
भगवान् द्वारा मारा जाकर यहाँ उत्पन्न हुआ हूँ। इसीलिये वह यादवों से
विरोध करने लगा।"

सुख का कैसे अनुभव कर सकता है। इसीलिये धर्म का बन्धन-प्रेम का बन्धन ही सुख का परम हेतु है। जो धर्म बन्धन में नहीं बँधा, वह परमात्माको कैसे पकड सकता है। जिसने प्रेम बन्धन मे बँधकर अपना तन, मन, धन, समस्त शारीरिक-मानसिक चेष्टायें और अपना सर्वस्व अपने प्रेमास्पद को अर्पित नहीं कर दिया, वह प्रेम के रहस्य को क्या जाने। पतिव्रता पत्नी अपना सर्वस्व पति चरणों मे अर्पित करके अखिल सृष्टि की स्वामिनी बन जाती है। ऐसी पतिव्रता के विरुद्ध आचरण करने का साहस कौन कर सकता है ? जो अपने पति को सर्वस्व न समझकर शारीरिक सुखों मे ही फँसी रहती है, उसीकी ओर पर पुरुष दृष्टि उठाकर देख सकता है, उसी से बलात्कार या छल करने का साहस कर सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! धर्मात्मा महाराज उग्रसेन के यहाँ दुष्टात्मा असुर पु गव कस कैसे उत्पन्न हुआ, इस प्रसग को मैं आप को सुनाता हूँ। इसी प्रसग से विदित हो जायगा, कि कालनेमि कैसे उग्रसेन के यहाँ पुत्र रूप में प्रकट हुआ।

माथुर मण्डल के राजा आहुक के पुत्र उग्रसेन धर्म पूर्वक प्रजापालन करते थे। वे सम्पूर्ण धर्मों के जानने वाले शूर वीर, दानी तथा सभी सद्‌गुणों के सागर थे, उनका विवाह विदर्भ देश के महाराज सत्यकेतु की प्यारी पुत्री पद्मावती के साथ हुआ था। पद्मावती यथा नाम तथा गुणवाली थी। वह पद्मा के समान सुन्दरी थी। महाराज ऐसी सुन्दरी सर्वगुणसम्पन्ना पत्नी पाकर राजा परम प्रमुदित हुए। पति पत्नी मे परस्पर बडा स्नेह था।

पद्मावती अपने पिता की एकलौती पुत्री थी। इसलिये मातापिता का उस पर अत्यधिक अनुराग था। इसलिये जब भी कुछ दिन बीतते, माता पिता पुत्री को घर बुला लेते थे। एक बार

पुत्री को ससुराल गये बहुत दिन बीत गये। विदर्भ राज की रानी ने अपने पति से कहा—"प्राणनाथ! पद्मावती को देखे मुझे बहुत दिन हो गये हैं। उसकी मुझे बहुत याद आती है। उसे शीघ्र ही आप कुछ दिनों के लिये घर बुलालें।"

यह सुनकर महाराज सत्यकेतु ने कहा—"प्रिये! मुझे भी पद्मा की बहुत याद आ रही है। मैं आज ही मथुरा दूत भेजता हूँ। उग्रसेन उसे मेरे कहने से अवश्य भेज देंगे।"

यह कहकर महाराज ने तुरन्त दूतों को और अपने कुल वृद्ध पुरोहित को पद्मावती को लाने के लिये मथुरा भेज दिया। कुल-पुरोहित ने जाकर सब का कुशल पूछा और राजा का सन्देश महाराज उग्रसेन को सुनाया। यद्यपि महाराज उग्रसेन नहीं चाहते थे कि उनकी प्राणप्रिया पद्मावती पल पर भी उनसे पृथक् हो, किन्तु ससुर के स्नेह और सौहार्द से तथा अपनी उदारता, विनय और भक्ति दिखाने के लिये उन्होंने प्रसन्नता के साथ सभी प्रबन्ध करके अपनी पत्नी को भेज दिया। पद्मावती पीहर गमन की बात सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई। वह अत्यन्त उत्सुकता के साथ अपने मायके चली। कुछ दिनों में वह विदर्भ देश मे अपने माता पिता के समीप आ गई। माता-पिता को प्रणाम करके वह रोने लगी। राजा-रानी ने उसका सिर सूँघा और उसे छाती से चिपटा लिया।

ससुराल मे तो उसे बहू बनकर रहना पडता था। सदा परदे मे रहती, किसी से बातें नहीं करती थी। घूँघट मारे रहती थी, बहू ही ठहरी। अब यहाँ पिता के घर मे तो कोई परदा ही नहीं। सिर से अञ्चल उतर गया है, तो उतरा ही हुआ है। सब से वह हँसकर बातें करती, सखी सहेलियों के साथ हास-परिहास और क्रीडा करती। अपना ऐश्वर्य दिखाने के लिये

सुन्दर-से सुन्दर वस्त्राभूषणों को धारण करती। सज धजकर सोलहों शृङ्गार करके, वह सखियों के सम्मुख यह सिद्ध करना चाहती थी, कि मैं भी माथुर-मण्डल की महारानी हूँ, मेरा भी वहाँ अपार ऐश्वर्य है। पिता के घर में आकर वह यह बात भूल ही गई कि पति से पृथक् रहकर स्त्रियों को इस प्रकार साज शृङ्गार न करना चाहिये, न इतनी स्वच्छन्द क्रीडा तथा हँसी विनोद ही करना चाहिये। वह तो अपने पिता की लाड़िली लड़ैती लाली थी, घर में आकर वह अति चपल चञ्चल बालिका के समान बन गई, अपनी सखी-सहेलियों के साथ वन उपवन, सरित तथा सरोवरों के समीप जाकर क्रीडा करती। हँसती खेलती वन विहार का आनन्द लूटती।

एक दिन वह भली प्रकार सज धजकर सोलहों शृङ्गार करके सखियों के साथ एक सुन्दर सरोवर के निकट क्रीड़ा निमित्त गई। वह अपनी सभी सखियों के मध्य बिजली के समान चमक रही थी। वसन्त की ऋतु थी, वनश्री ने भी आज समुचित शृङ्गार किया था। जिस सरोवर के निकट वह क्रीड़ा कर रही थी, उसका नाम सर्वतोभद्र था। उसके समीप ही वेलों का सघन वन था। वह लताओं के सघन वितानों से सुशोभित था। एक ओर तो हरी भरी छोटी सी पहाड़ी थी, दूसरी ओर अति सुन्दर मनोहर वनस्थली। भाँति भाँति के रङ्ग बिरङ्गे पुष्प वहाँ हँसते हुए आनन्द में भर कर खिल रहे थे। सघन द्रुमों की शाखायें, झूम झूमकर भूमि को चूम रही थीं। वन की ऐसी शोभा देखकर वे सभी सुकुमारियाँ खिल उठीं। सभी एक सी अवस्था की थीं। वहाँ न कोई पुरुष था, न किसी का संकोच। एकान्त स्थान पाकर सभी के हृदय में सरसता का संचार हुआ। एक तो स्त्रियाँ स्वभाव से ही चञ्चला होती हैं, फिर पर भी

युवावस्था । सभी की गधापचीसी की वय थी। अतः सब निमुक्त हँसी हँसने लगीं, इधर से उधर महुओं के फूलों को बीन-बीनकर उनका रसपान करने लगी। कोई गाने लगी। कोई नृत्य दिखाने लगी, कोई वाद्य ही बजाने लगी, इस प्रकार वे क्रीड़ा करते-करते थक गईं। मुख-कमलों पर श्वेत विन्दु भी झलकने लगे। पद्मावती ने सम्मति दी, 'अब तो जलविहार होना चाहिये।' बस फिर क्या था ! सभी अपने-अपने वस्त्र उतार-उतार कर सरोवर में कूद ही तो पड़ीं। कोई किसी को डुबाती, कोई किसी पर जल फेंकती, कोई किसी को ऊपर चढ़ा कर जल में गिरा देती। यह देखकर सब हँसते-हँसते लोट-पोट हो जातीं। कोई किसी के कंधे पर चढ़ जाती। कोई दोनों को ढकेल देती। इस प्रकार वहाँ आनन्द विनोद और हास्य की तरंगें उठ रही थीं।

उसी समय वह दैवयोग से लोकपाल धनद कुवेर का एक सेवक गोभिल नामक दैत्य वहाँ आ पहुँचा। उन युवतियों को जल-क्रीड़ा मे निमग्न देखकर करबद्ध खड़ा हो गया। उसकी दृष्टि पद्मावती पर पड़ी। 'उसके रूप, यौवन, सौन्दर्य तथा लावण्य को देखकर दैत्य कामातुर हो उठा। वह सोचने लगा— 'यह सुन्दरी कैसे मिले।' गोभिल शक्तिमान था। अतः उसने ध्यान से यह बात जान ली कि यह विदर्भराज की पुत्री है और मथुरा-नरेश महाराज उग्रसेन की पत्नी है। किन्तु यह तो अपने पति को छोड़कर किसी परपुरुष को चाहती ही नहीं। इससे मैं संगम कैसे कर सकता हूँ। इसी बात को असुर एकान्त में खड़े-खड़े सोचता रहा। सहसा उसके मन में एक बात आ गई—"क्यों न मैं माया से महाराज उग्रसेन का ही रूप रख लूँ ?"

इस विचार क आते ही उसे बडी प्रसन्नता हुई। उसने तुरन्त महाराज उग्रसेन का ज्यों का त्यो माया मय रूप धारण किया। उसने अपनी दानवी माया से ऐसा स्वरूप बना लिया, कि कोई भी सन्देह नहीं कर सकता था, कि य मथुरेश उग्रसेन नहीं है। ऐसा सुन्दर रूप रखकर वह सरोवर के समीप ही एक सुन्दर सघन अशोक वृक्ष के नीचे बैठकर स्वर के सहित वंशी बजाने लगा। उसने ऐसा कर्ण प्रिय संगीत

छेड़ा, कि दशों दिशाये गूँज उठीं। वह दैत्य सुन्दर-सुललित कण्ठ से ताल, लय तथा स्वर के सहित गा रहा था और वंशी बजा रहा था। सखियों के मध्य बैठी हुई पद्मावती ने वह चित्त को हठात् अपनी ओर आकर्षित करनेवाला संगीत सुना। वहीं बैठे बैठे अपनी सहेलियों से वह संगीत की

प्रशंसा करने लगी। संगीत की स्वर-लहरियाँ आ आकर उसके हृदय को उन्मत्त बनाने लगीं। अब वह अपने स्थान पर बैठी न रह सकी। कुतूहलवश संगीत के स्वर के सहारे वह सखियों-सहित उधर ही चली। दूर से ही उसने देखा कि अशोक के नीचे एक व्यक्ति बैठा बाँसुरी बजा रहा है और उसी स्वर में गीत गा रहा है। कुछ समीप पहुँचकर उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। ये तो मेरे प्राणनाथ मथुरेश महाराज हैं। किन्तु, वह बार बार सोचने लगी—"उनके आने की तो कोई सूचना भी नहीं थी। इतनी दूर से वे सहसा ऐसे कैसे आ सकते हैं? सम्भव है, ये कोई और हों, मुझे भ्रम हो गया हो।" इस प्रकार संशय में पड़ी पद्मावती यह सब सोच ही रही थी, कि उस दुष्ट गोभिल दैत्य ने पुकारा—"प्रिये! तुम मेरे समीप आओ। मैं तुम्हारे बिना व्याकुल हो रहा हूँ।"

अब तो पद्मावती को कोई सन्देह ही नहीं रहा। वह दौड़ कर उग्रसेन बने उस दुष्ट दैत्य के समीप गई और प्रणाम करके उसने पूछा—"प्राणनाथ! आप कब पधारे?"

मायावी दैत्य ने कहा—"प्रिये! मुझे तुम्हारे बिना एक एक पल युग के समान हो गया। मैं तुम्हारे विरह को अधिक सहन करने में समर्थ न हो सका। इसीलिये अपने राज्य को छोड़कर तुम्हारे समीप आया हूँ। देवि! तुम्हारे बिना मेरा जीवन असम्भव है, तुम्हारा विरह मुझे व्याकुल बनाये हुए है। अनंग ने अपने कुसुम शरों से मुझे जर्जर बना दिया है।"

पद्मावती की सखियाँ उसे उग्रसेन समझकर वहाँ से हट गईं। वह दुष्ट नाना प्रकार की सरस-स्नेह भरी बातें करके राज कुमारी को एकान्त सघन वन में ले गया और वहाँ उसने अपनी इच्छा-पूर्ति की। महाराज उग्रसेन के किसी विशिष्ट अङ्ग

में कोई विशिष्ट चिन्ह था। उस चिन्ह को उसके अङ्ग में न पाकर पद्मावती को उस पर सन्देह हुआ। वह सोचने लगी—"मेरे पति कैसे आ सकते हैं। उन्होंने तो ऐसी चञ्चलता कभी दिखाई नहीं। हो न हो यह कोई दैत्य है, माया से इसने यह छद्मवेश धारण कर लिया है। यह मेरा पति नहीं हो सकता।"

ऐसे विचार के आते ही उसने अपने वस्त्रों को पहन लिया और लाल-लाल आँखें करके बोली—"अरे दुष्ट! सच-सच बता तू कौन है?"

दैत्य ने अपना यथार्थ रूप रखकर कहा—"मैं गोभिल नामक दैत्य हूँ, कुबेर का अनुचर हूँ।"

क्रोध से उसे जलाती हुई-सी पद्मावती बोली—"अरे, दुष्ट! तू ने मेरे साथ अधर्म किया है। मैं तुझे शाप देकर भस्म कर दूँगी।"

गोभिल ने धैर्य के साथ बिना डरे कहा—"देवि! मैंने तो कोई अधर्म किया नहीं। असुर और दानवों का यह धर्म ही है कि छल बल और माया से अपनी इच्छाओं की पूर्ति करें। मैंने भी वही किया है। इसमें मैं तो कोई अधर्म की बात नहीं समझता। मैं तो अपने धर्म पर ही हूँ। तुम अपने धर्म पर हो या नहीं, इसे तुम्हीं सोचो।"

पद्मावती बोली—"अरे नीच! तू पतिव्रताओं के प्रभाव को क्या नहीं जानता ?"

दैत्य ने कहा—"भली भाँति जानता हूँ। पतिव्रता तो असम्भव को सम्भव कर सकती है, सूर्य चन्द्र की गति रोक सकती है, सुमेरु को भस्मसात् कर सकती है, सातों समुद्रों को सङ्कल्पमात्र से सुखा सकती है। शरीर की बात तो पृथक् रही, सती को कोई मन से भी दूषित नहीं कर सकता।"

पद्मावती ने कहा—"जब तू इतना जानता है, तो तूने ऐसा

साहस क्यों किया ? क्या मैं तुझे शाप देकर भस्म नहीं कर सकती ?"

दैत्य बोला—"कर क्यो नहीं सकती। यदि तुम सच्ची पतिव्रता होती, तो अवश्य कर सकती थी।"

पद्मावती ने कहा—"क्या तुझे मेरे पतिव्रता होने मे सन्देह है ? देख, मैं तुझे अभी शाप देकर भस्म करती हूँ।"

उपेक्षा के स्वर मे गोभिल बोला—"मुझे सन्देह ही नहीं है, पूर्ण विश्वास भी है, कि तुम पतिव्रता नहीं हो। इसीलिये मुझे तुम्हारे शाप का भी भय नहीं है। यदि तुम पतिव्रता होती, तो इस प्रकार पति को छोडकर यहाँ वन-विहार न करती। पतिव्रता क्या पति के बिना क्षण भर भी रह सकती है ?"

पद्मावती ने कहा—"अरे, नीच ! मैं कहीं बाहर तो गई ही नहीं। मुझे मेरे पिता ने प्रेम पूर्वक बुलाया है। स्त्रियो के लिये दो ही तो रहने के स्थान हैं—या तो पति का, या पिता का घर। मैं शरीर से पति से पृथक् हूँ, किन्तु मन से तो मैं उन्हीं का चितन करती रहती हूँ।"

गोभिल ने कहा—"मन से यदि तुम अपने पति का ही चितन करती रहती, तो तुम मुझे पहचान न सकती ? यह असम्भव है। पतिव्रता के धर्मों को तुम जानती ही नहीं। तुम धैर्यपूर्वक सुनो और क्रोध न करो, तो मैं तुम्हें पतिव्रताओं के धर्म बताता हूँ। यदि वे तुम मे हों, तो मुझे शाप देकर भस्म कर देना, वे न हों, तो चुपचाप अपने घर चली जाना।"

पद्मावती ने कहा—"अच्छा, बता तू ही पतिव्रताओं के धर्म।"

गोभिल बोला—"देवि ! सावधान होकर श्रवण करो।"

पतिव्रता नित्य ही मन, वाणी तथा कर्मों से अपने पति की सेवा में संलग्न रहती है।

पतिव्रता—पति की संतुष्टि में ही अपनी संतुष्टि मानती है।

पतिव्रता—पति के क्रोध करने पर भी क्रोध नहीं करती।

पतिव्रता—पति के गाली देने पर भी उत्तर नहीं देती।

पतिव्रता—पति के प्रहार करने पर भी पलटकर उसे रोपभरी दृष्टि से नहीं देखती।

पतिव्रता—सदा अपने पति के दुःख-सुख मे साथ रहती है। पति को सुखी रखना ही उसके जीवन का ध्येय है। पति के दोषों की ओर वह ध्यान नहीं देती, गुणों के ही कारण उसका आदर नहीं करती। पति चाहे सुरूप हो या कुरूप, सर्वाङ्ग हो या हीनाङ्ग, स्वस्थ हो या महारोगयुक्त—सब भाँति वह उसी की सेवा करती है।

पतिव्रता—पति की अनुपस्थिति मे शृङ्गार नहीं करती, ग्राम्य सुखों को नहीं भोगती, हँसी, विनोद, मनोरञ्जन तथा चञ्चलता नहीं करती।

पतिव्रता—की पवित्रता, शुचिता, साज, शृङ्गार,हास-परिहास तथा शारीरिक-मानसिक सभी चेष्टायें पति को प्रसन्न करने के निमित्त होती हैं। क्या तुम मे हैं ये सब बातें ? क्या तुम पति को देवता मानती हो ? क्या तुम कुलटा स्त्री नहीं हो ? कहो तो कुलटाओं के भी लक्षण बता दूँ।"

यह सुनकर आगबबूला होती हुई पद्मावती बोली—"अरे दुष्ट दैत्य ! तू बहुत बढ़-बढ़कर बात बना रहा है। निर्लज्ज दानव ! पति को ही सर्वस्व समझने वाली मुझे तू कुलटा बना रहा है। तू ने मुझसे कौन से कुलटापने के लक्षण पाये ?"

धैर्य, किन्तु रोष के स्वर में, गोभिल बोला—"पति की अनुपस्थिति मे जो स्त्री लोलुपता-वश ग्राम्य भोगों को भोगती है, वह कुलटा है। जो स्वामी को छोड़कर अन्य पुरुषों में मन लगाती

है. यह कुलटा है। अच्छा, रानीजो! तुम अपने को पतिव्रता लगाती हो,तो यह बताओ पति के बिना तुम यह चटक-मटक क्यों कर रही हो? इन काले काले बालों में इतना बहुमूल्य सुगन्धित तैल तुमने किसे रिझाने के लिये डाला है? ये सुन्दर बाल काढ़ बाँधकर किसके लिये सजाये हैं? किसका घ्राणेन्द्रिय को तृप्त करने के लिये धम्मिल में यह मालता का सुगन्धियुक्त माला खुरसी है? यह बेंदी सिन्दूर किसे दिखाने को सजाया है? अनेक सुगन्धि पदार्थों से युक्त यह पान किसकी घ्राण में सुगन्धि में साँस उँडेलने को खाया है। वक्षस्थल पर यह गाढ़ी-गाढ़ी केशर-कस्तूरी और कपूर से युक्त चन्दन की कीच किसके करों को सुगन्धित करने के लिये लेपी है? हाथों मे मिहदी और पैरों में महावर किसके मनको आकर्पित करने के लिये रचाये हैं? पतिव्रता तो यह सब पति को ही प्रसन्न करने के लिये करती हैं। वह स्वयं अपने को सुख देने के निमित्त शरीर को नहीं सजाती। तुम्हारे पति तो यहाँ से ४०० कोस दूर बैठे हुए हैं। तुम यह रङ्गरेलियाँ कर रही हो, क्या यही तुम्हारा पतिव्रत है! दुष्टा कहीं की? चली है मुझे शाप देने। पहले अपने रूप को तो देख। मनुष्य अपने दोषों को तो देखता नहीं,दूसरों पर लाँछन लगाता है। तुम्हारा पति मथुरा मे बैठा है, तुम विदर्भ देश में चहक रही हो, मदमाती बनी फुदक रही हो और कहती हो, मैं पतिव्रता हूँ, पतिव्रता हूँ।' तुम पत्थर हो। मैं तो तुम्हे एक व्यभिचारिणी कुलटा स्त्री समझता हूँ। यदि तुममे तेज, ओज, बल, तप, शक्ति सामर्थ्य तथा पातिव्रत का प्रभाव है, तो दिखाओ मुझे। लो, मैं खडा हूँ तुम्हारे सामने, करो मुझे नष्ट! हम तो असुर हैं, जहाँ हमे ऐसी स्त्रियाँ मिलती हैं, सम्मति-असम्मति, छल-बल, कला-कौशल तथा माया आदि से मोहित करके अपनी इच्छा-पूर्ति करते हैं, चले

जाते हैं। मैंने तुम्हारे उदर में अमोघवीर्य स्थापित किया है। इसमें कालनेमि नामक राक्षस संकल्प से आ गया है। वही तुम्हारे उदर से उत्पन्न होकर तुम्हारे पति के वंशवालों को क्लेश देगा।" इतना कहकर वह दानव तुरन्त वहाँ से चला गया।

पद्मावती को अपनी भूल प्रतीत हुई। उसके सभी अङ्ग दुखने लगे। नेत्रों से अश्रुओं की धारा बहने लगी। लज्जा, दुःख, आत्म-ग्लानि तथा शोक के कारण वह फूट-फूटकर रोने लगी। उसकी सखियाँ दूर थीं। रुदन का शब्द सुनकर वे सब की सब दौड़ी आईं। आकर उन्होंने देखा, पद्मावती अत्यंत दुःखी होकर मुख ढाँके उच्च स्वर से एकाकी रुदन कर रही है।

आकर सभी ने घबराहट के साथ पूछा—"राजकुमारि ! महाराज कहाँ चले गये ? तुम इतनी दुःखिता क्यों हो रही हो ?"

रोते-रोते राजकुमारी ने कहा—"बहनो ! मेरे प्राणनाथ मथुरेश महाराज यहाँ नहीं पधारे थे, वह तो कोई दुष्ट दानव था। उसने छद्मवेश बनाकर मेरा सतीत्व नष्ट किया। अब मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? मैं तो बुरी तरह ठगी गई, कहीं की भी न रही ! मैं किसी को कैसे मुँह दिखाऊँगी ? कैसे अपना पाप छिपाऊँगी ? हाय ! मेरे किस जन्म के पाप उदय हुए ? अब मैं लौटकर माता पिता के समीप न जाऊँगी। यहीं आत्म-घात करके मर जाऊँगी।" इस प्रकार वह रोती-रोती विलाप करने लगी।

सखियों ने उसे भाँति-भाँति से समझाया। कर्मों का भोग बताकर, जैसे-तैसे उसे धैर्य बँधाकर विदर्भ-नरेश के महलों में ले गई। वहाँ जाकर पद्मावती ने अपनी माता से यह सब समाचार

कहा। माता ने अपने पति महाराज सत्यकेतु को सब बातें बताईं, महाराज को भी बड़ी चिन्ता हुई। अपनी मान-मर्यादा तथा कुल-कीर्ति को बचाने के निमित्त राजा ने तुरन्त पुरोहित तथा सेवकों के साथ पद्मावती को उसके पति के यहाँ भेज दिया।

महाराज उग्रसेन अपनी प्राणप्रिया के आगमन से परम प्रसन्न हुए और ससुराल का कुशल पूछा। रानी ने यह बात पति के सम्मुख प्रकट न की। वह उस गर्भ को गिराने के लिये भाँति भाँति की चेष्टा करने लगी। किन्तु वह तो गिरनेवाला गर्भ नहीं था। असुर ने उसके उदर में प्रवेश किया था। रानी को गर्भ धारण किये हुए एक वर्ष हो गया, किन्तु प्रसव के कोई चिह्न ही नहीं दिखाई दिये। इसी प्रकार दस महीने के स्थान में १० वर्ष हो गये। वह दुष्ट बाहर ही न हुआ। अन्त में १० वें वर्ष में वह कालनेमि दैत्य महारानी पद्मावती के गर्भ से उत्पन्न हुआ। महाराज ने बड़ी धूम-धाम से उसका जन्मोत्सव किया। उसी का नाम कंस रखा गया। कंस ने क्या-क्या किया, इन सब बातों का वर्णन श्रीकृष्ण-चरित में किया जायगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने वृष्णिवंशी राजाओं का अत्यन्त संक्षेप में वर्णन किया। मैं पीछे बता चुका हूँ कि अनमित्र-पुत्र वृष्णि के श्वफलक और चित्ररथ दो पुत्र हुए, श्वफलक के तो अक्रूर प्रभृति तेरह पुत्र हुए, जिनके नाम पीछे बता चुका हूँ। अब महाराज चित्ररथ के वंश को श्रवण करें। चित्ररथ के पुत्र विदूरथ हुए और विदूरथ के ही पुत्र शूर हुए। इन शूर के ही कारण भगवान् श्रीकृष्ण का नाम शौरि हुआ। इसी वंश में वसुदेव जी का जन्म हुआ। अतः अब शौरि-वंश का ही आगे वर्णन करूँगा।

छप्पय

उग्रसेन को रूप धरयो रानी बहकाई।
करयो कपट छल असुर कुमरि एकान्त बुलाई॥
थापन कीयो गर्भ जानि पीछे पछताई।
आई महलनि तुरत पिता पीहर पहुँचाई॥
कालनेमि आयो उदर, होनहार सो है गयो।
जन्यो पुत्र दश बरस महँ, असुर कंस सोई भयो॥

शूर-वंश में वसुदेवजी

(८०८)

देवदुन्दुभयो नेदुरानका यस्य जन्मनि ।
वसुदेवं हरेः स्थानं वदन्त्यानक दुन्दुभिम् ॥१

(श्री भा० ९ स्क० २४ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

पुत्र चित्ररथ भये विदूरथ शूर तनय तिनि ।
शूर तनय भजमान भये तिनि के सुत नृप शिनि ॥
शूर मारिषा माँहि जने दश सुत तेजस्वी ।
तिनि महँ सब तैं बड़े भये वसुदेव यशस्वी ॥
तिनिकी पत्नी त्रयोदश, भाग्यवती अति देवकी ।
अजर अमर जग महँ भई, जननी बनि हरि देवकी ॥

भगवान सर्वव्यापक हैं, सर्वान्तर्यामी हैं, चराचर में समान रूप से व्याप्त हैं। ये विचार शान्त रस की उपासना करनेवाले योगियों के हैं। भगवान को सर्वव्यापक और विराट् मानकर अशान्त चित्त को निर्मल शान्त बनाना, यही शान्त रस की उपासना का फल है। शान्तरस के उपासक ज्ञानी विराट् भगवान् की ही उपासना करते हैं। संसार में जो भी कुछ है, उस भूमा पुरुष का विलास मात्र है, वे ही अनेक रूपों में दिखाई देते हैं। वे ही सत्य हैं, नाना रूपों में प्रतीत होनेवाला प्रपञ्च असत् है। किन्तु,जो भगवान् में कोई सम्बन्ध स्थापित करके उनके सगुणरूप की उपासना करते हैं, उनके लिये संसार सत् है या असत्—यह

१—श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वसुदेवजी के जन्म के समय देवताओं के आनक और दुन्दुभि बाजे स्वयं बजने लगे थे। इसलिये वसुदेवजी को "आनक दुन्दुभि" कहते हैं। ये भगवान् श्रीहरि के जन्म के स्थान हैं।"

प्रश्न विचारणीय ही नहीं। जिस वस्तु से भगवान् का सम्बन्ध है, वह भगवान् की ही भाँति सत् है। भगवान् के उपयोग में जो भी वस्तु आती है, सब सत् है सब चिन्मय है। भगवान् से जिनका सम्बन्ध हो चुका है, वे सब उनके परिकर हैं, पार्षद हैं, नित्य हैं, सत् हैं, चिन्मय है। जिस भूमि में उनकी क्रीडा हुई है, वह सत् है, सुख-स्वरूप है। जहाँ वे अवतरित हुए हैं, जिसके द्वारा प्रकट हुए हैं, वे सब श्रीहरि के स्थान है। उनमें वे तदाकार हैं। इसीलिये वासुदेव के वसने के स्थान को वसुदेव कहते हैं। जो वसुदेव, वही वासुदेव—एक ही आत्मा हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पीछे मैं बता चुका हूँ कि महाराज चित्ररथ के पुत्र विदूरथ हुए। उनके शूर नामक पुत्र का जन्म हुआ शूर के सुत भजमान, उनके शिनि, शिनि के स्वयम्भोज और स्वयम्भोज के पुत्र हृदीक हुए। हृदीक के तीन पुत्र हुए—देवबाहु (देवमीढ़) शतधनु और कृतवर्मा।

महाराज हृदीक के बड़े पुत्र देवबाहु का नाम देवमीढ़ भी था। इन देवमीढ़ महाराज के एक बड़ा तेजस्वी पुत्र हुआ। वह शूर के समान शूर-वीर था, अतः सबने उसका भी नाम शूर रखा। कुमार शूर जब बड़े हुए, तब मारिषा नाम्नी राजकुमारी के साथ इनका विवाह हुआ। उस मारिषा पत्नी में इन्होंने दश पुत्र उत्पन्न किये। इन दश में सबसे बड़े पुत्र का नाम वसुदेव था।

वसुदेवजी का जब जन्म हुआ, तब पृथ्वी पर तो सर्वत्र आनन्द छा ही गया, स्वर्ग में भी देवताओं के नौबत और दुन्दुभि आदि बाजे स्वयं बजने लगे। बिना बजाये ही जब सब बाजे स्वतः बजने लगे, तब देवताओं को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे सब अपने राजा शचीपति शतक्रतु को आगे करके लोक पितामह श्री ब्रह्माजी के पास गये और बोले—"भगवन्! यह बड़े ही आश्चर्य की बात

है, कि हमारे बाजे बिना बजाये ही बजने लगे हैं। संसार में ऐसी कौन-सी विचित्र घटना घटनेवाली है ? आज सम्पूर्ण चराचर आनन्द मे उन्मत्त हो रहा है, सबके लिये ऐसी कौन-सी अपूर्व आनन्द की बात होनेवाली है ?"

ब्रह्माजी ने कहा—"देवताओ ! तुमको पता नहीं। आज तो अत्यन्त ही आनन्द का अवसर है। जैसे कोई प्रजा-वत्सल, सर्वप्रिय, सर्वसुहृद् सम्राट् कहीं आनेवाला होता है, तो उसके आगमन को सुनकर ही सभी को बड़ी उत्सुकता होती है, सभी अत्यंत ही उत्कण्ठा से उसके आगमन की प्रतीक्षा करने लगते हैं, दिन गिनने लगते हैं। उनके स्वागत-सत्कार के लिये स्थान बनाते हैं। जब उनके निवास के लिये स्थान बन जाता है, तब तो सभी को आशा हो जाती है कि अब तो वे अवश्य ही पधारेंगे। इसी प्रकार भगवान् के जन्म लेने का स्थान वसुदेवजी हैं। प्रथम आकर वे वसुदेवजी के ही अन्तःकरण मे प्रवेश करेंगे। उन्हीं वसुदेवजी का आज जन्म हुआ है। उसी की प्रसन्नता मे दुन्दुभि आदि बाजे स्वयं बजने लगे।"

यह सुनकर देवता प्रसन्न हुए और भगवान् कमलासन को प्रणाम करके अपने यहाँ आकर आनन्दोत्सव मनाने लगे। वसुदेवजी के अनन्तर महाराज शूर के देवभाग, देवश्रवा, आनक, सृञ्जय, श्यामक, कंक, शमीक, वत्सक और वृक—ये नौ पुत्र और उत्पन्न हुए। ये सब भगवान् के चाचा थे। भगवान् जब क्रीडा करते हैं, तब एकाकी रमण नहीं करते। अपने बहुत से सम्बन्धियो को लेकर वे खेल करते हैं, क्योंकि खेल, नाटक, अभिनय एक दो से नहीं होते। उसके लिये बहुत से पात्र चाहिये। इसीलिये नौ तो उनके चाचा थे, चाचियो को तो कोई संख्या ही क्या है ! तेरह तो इनकी सगी मातायें थीं। इन में सबसे छोटी देवकीजी थीं।

पाँच इनकी बूआयें थीं। मुझे सक्षेप में सभी के वंश को कहना है। अब शीघ्रता से आप यह बता दीजिये कि मैं पहले भगवान् के सगे मौसेरे, चचेरे भाइयों के नाम सुनाऊँ या इनकी बूआओं के बालकों के नाम बताऊँ ?"

इस पर शौनकजी बोले—"अब महाराज सूतजी, आप ही जानें। आप इन्हीं के वंश को सुनाते रहे, तो श्रीकृष्ण लीला-श्रवण में देर हो जायगी और हमें श्रीकृष्ण-लीला सुनने की चट-पटी लगी हुई है। परन्तु, आप मानेंगे थोड़े ही। जब तक श्री कृष्णलीला की पूरी भूमिका न बाँध लेंगे, तब तक आप आरम्भ न करेंगे। प्रतीत होता है, श्रीकृष्ण लीलाओं में स्थान स्थान पर इन सब का प्रसङ्ग आवेगा। इसीलिये आप प्रथम ही सब का परिचय करा देना उपयुक्त समझते हैं। अच्छी बात है, पहले भगवान् की बूआओं के ही वंश को सुनाइये। हाँ, तो भगवान् की पाँच बूआएँ कौन थीं ?"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज! सुनिये, वसुदेवजी की पृथा, श्रुतदेवा, श्रुतकीर्ति, श्रुतश्रवा और राजाधिदेवी—ये पाँच बहनें थीं। प्रतीत ऐसा होता है कि महाराज शूर के पहले ये पाँच पुत्रियाँ ही हुईं, तदनन्तर दश पुत्र हुए। पुत्रियों में सबसे बड़ी पृथा थी और पुत्रों में सबसे बड़े वसुदेवजी।

महाराज शूर की बूआ के पुत्र महाराज कुन्तिभोज थे। अवस्था में तो कुन्तिभोज महाराज शूर से बड़े थे, किन्तु दोनों में बड़ा ही स्नेह था। एक बार महाराज कुन्तिभोज मथुरा में आये। महाराज शूर ने अपने फुफेरे भाई का बड़ा स्वागत-सत्कार किया। उन दिनों महारानी मारिषा ने प्रथम ही प्रथम गर्भ धारण किया था। महाराज कुन्तिभोज के कोई सन्तान नहीं थी, अतः बातों-ही-बातों में यह प्रसंग छिड़ गया। महाराज कुन्तिभोज

सन्तान के बिना बडे दुःखी तथा चिन्तित दिखाई दिये। अतः स्नेहवश महाराज शूर ने कहा—भाईजी! आप इतने दुःखी क्यों होते हैं? हम भी तो आप के ही हैं। आप की बहू गर्भवती है। मेरी प्रथम जो भी सन्तान होगी, उसे मैं आप को दे दूँगा।"

यह सुनकर महाराज कुन्ती भोज परम प्रसन्न हुए। कुछ काल मे मारिषा के गर्भ से एक पुत्री का जन्म हुआ। महाराज शूर ने उसका नाम पृथा रखा। पृथा जब एक दो वर्ष की हो गई, तब महाराज शूर ने अपने प्रतिज्ञानुसार उसे महाराज कुन्तिभोज के यहाँ भेज दिया। इतनी सुन्दरी पुत्री पाकर महाराज कुन्तिभोज के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने उसे पुत्र करके ही माना और अत्यत ही लाड प्यार के साथ उसका पालन पोषण करने लगे। जैसे एक कमल-कुण्ड से यत्न पूर्वक कुमुदिनी की बेल लाई जाय, तो कुछ काल तो मार्ग में वह कुम्हला जाती है, किन्तु दूसरे वैसे ही कुण्ड मे वैसा ही सुन्दर जल, वैसी ही कीच पाकर वह हरी भरी प्रफुल्लित हो जाती है, उसी प्रकार मथुरा के महलो से आते समय मार्ग मे पृथा दुःखी हुई। किन्तु, कुन्तिभोज महाराज के महलों में आकर पुनः प्रफुल्लित हो गई। वह अपने पुराने घर को भूल सी गई। जैसे चन्द्र की कला प्रतिदिन बढती है, वैसे ही पृथा भी बढने लगी। कुन्तिभोज की पुत्री होने से उसका नाम अब कुन्ती हो गया। ज्यों-ज्यों उसकी अवस्था बढती गई, त्यों ही-त्यो उसके गुण भी बढने लगे। वह त्रैलोक्य सुन्दरी कन्या थी। पिता उसे पाकर अपने को परम भाग्यशाली मानते थे। जो भी उस कन्या को देखता, वही उसके गुणों पर मुग्ध हो जाता। ससार को वश मे करने के तीन ही महामन्त्र हैं—मधुरवाणी, सेवा और पर निन्दा न करना। लडका हो,

लड़की हो, स्त्री हो, पुरुष हो—कोई भी क्यों न हो, जिसने ये तीन महामन्त्र ग्रहण कर लिये, उसने विश्व को अपने वश में कर लिया। कुमारी कुन्ती ने इन तीनों ही मन्त्रों को ग्रहण कर लिया था। इसीलिये तो उसने असम्भव बात को भी सम्भव कर डाला। सबके लिये दुराराध्य दुर्वासाजी को अपनी शुश्रूषा के बलसे उन्होंने प्रसन्न और सन्तुष्ट करके ऐसा दुर्लभ वर प्राप्त कर लिया, जो मनुष्यलोक की ललनाओं को नसीब कहाँ, देव पत्नियों के लिये भी दुर्लभ है। इन्हीं कुन्ती के गर्भ से कन्यावस्था में दान वीर महाराज कर्ण का जन्म हुआ।

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हम प्रसङ्गानुसार यहाँ दानवीर कर्ण के जन्म की कथा को भी सुनना चाहते हैं, कृपा करके संक्षेप में इसे भी सुना दें। तब भगवान् की शेष बूआओं की कथा सुनावें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! मैं भी महात्मा *कर्ण की कथा सुनाने को उत्सुक था, किन्तु आपके डर से प्रसङ्ग* नहीं चलाया। अब आपने ही प्रश्न कर दिया, तो सुनिये, कर्णोत्पत्ति की कथा सुनाता हूँ।

छप्पय

सुता शूर की पाँच बहन वसुदेव भूप की।
पृथा सबनि महँ बड़ी खानि जो रही रूप की॥
कुन्ती भोज कूँ दई नृपति पुत्री करि लीन्हीं।
दुर्वासा ने देव बुलावनि विद्या दीन्ही॥
आवाहन रवि को करयो, मन्त्र परीक्षा करन हित।
आये सम्मुख सूर्य जब, भयो कुँवरि चित सकुचित॥

~

वसुदेवजी के भानजे कुन्ती पुत्र कर्ण

कुन्तेः सख्युः पिता शूरोह्यपुत्रस्य पृथामदात् ।
साप दुर्वाससो विद्यां देवहूतीं प्रतोषितात् ॥
तस्या वीर्यपरीक्षार्थमाजुहाव रविं शुचिम् ॥१

(श्री भा० ९ स्क० २४ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

व्यर्थ आगमन होहि न मेरो तेरो अनहित ।
थापन कीयो गर्भ भई कुन्ती अति लज्जित ॥
करी प्रकट नहिं बात जन्यो छिपके सुन्दर सुत ।
अति तेजस्वी वीर कवच पहिने कुन्डल युत ॥
कन्या सुत अनुपम निरखि, लोक लाज वश डरि गई ।
प्यायो पय मुख चूमि के, पुनि पुनि लखि व्याकुल भई ॥

समाज का बन्धन न हो, तो मनुष्य या तो पशु हो जाय, या फिर देवता ही बन जाय। साधारण लोगों को लोक लाज-वश बहुत-सी ऐसी बातें करनी पडती हैं, जिन्हें करने को हृदय नहीं चाहता। किन्तु, समाज तो अपनी मर्यादा को स्थिर रखने को

१—श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! पृथा के पिता राजा शूरसेन ने अपनी पुत्री को अपने सखा महाराज कुन्तिभोज को दे दी। उस पृथाने अपने से सन्तुष्ट हुए महर्षि दुर्वासा से देवदूती नामकी विद्या प्राप्त की थी। उस विद्या की परीक्षा के निमित्त उसने परमपवित्र सूर्यदेव को बुलाया।"

अप्रिय कार्यों को भी कराता है। समाज हार्दिक भावो को आदर नहीं देता। उसे तो मस्तिष्क से काम है। समाज के लिये पृथक् पृथक् सबके भावों को जानना असम्भव है। उसके लिये तो घटना ही प्रमाण है। कोई अपने विशिष्ट गुणो से समाज से ऊपर उठ जाय, उसकी बात दूसरी है, किन्तु समाज किसी को क्षमा नहीं करता। उसे तो देश, काल, समय और अपने यहाँ सदाचारानुसार समाज मे रहनेवालों को निन्दा और स्तुति रूप दण्ड देना ही है। इसीलिये बहुत से अपराध समाज के भय से नहीं होने पाते और बहुत सी प्रकट करने योग्य बातें भी समाज के नियमानुसार प्रकट नहीं की जातीं। समाज मे सामाजिक व्यवस्था का पालन करना सर्वसाधारण के लिये हितकर ही है। इससे समाज उच्छृङ्खलता से कुछ बच जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज कुन्तिभोज पृथा को पाकर परम प्रमुदित हुए। उसका वहाँ 'कुन्ती' नाम प्रसिद्ध हुआ। कुन्ती जब विवाह योग्य हुई, तब राजा उसके योग्य वर ढूँढने लगे। उनका कुन्ती के प्रति अत्यधिक अनुराग था। वे चाहते थे मेरी पुत्री को कोई उत्तम घर-वर मिले। राजा इस चिन्ता में थे ही कि महर्षि दुर्वासा राजा के महलो में आये। महामुनि दुर्वासा को देखकर राजा अपनी रानी तथा पुरोहित मन्त्रियों के साथ उठकर खड़े हो गये। उन्होंने मुनि का यथोचित स्वागत सत्कार किया और कुशल पूछा। दोनों ओर से कुशल प्रश्न होने के अनन्तर मुनि ने कहा—"राजन्! मेरी इच्छा है कि अबके चातुर्मास्य व्रत में आपके ही यहाँ रहकर करूँ। आपकी इसमें क्या सम्मति है?"

अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मेरा अहो भाग्य, जो आप मेरे ऊपर इतनी अधिक कृपा करना

चाहते हैं। स्वामिन्! एक क्षण को भी साधु संग मिल जाय, तो करोड़ों जन्मों के पाप ताप कट जाते हैं। फिर आप तो मुझे चार महीने अपने दर्शनों का देव दुर्लभ सुअवसर प्रदान कर रहे हैं। इससे बढ़कर मेरे लिये प्रसन्नता की दूसरी बात कौन हो सकती है ?"

राजा की प्रसन्नता पूर्वक अनुमति पाकर मुनि ने वहीं उनके यहाँ चातुर्मास्य व्रत करने का निश्चय कर लिया। राजा कुन्ती भोज दुर्वासा जी के स्वभाव को जानते थे। वे ही क्या जानते थे, संसार के सभी लोग जानते हैं कि दुर्वासाजी रुद्रावतार हैं। क्रोध तो उनके ओठों पर रखा ही रहता है। वे शाप के बिना बात ही नहीं करते। ऐसे उग्रस्वभाव मुनि को चार महीने प्रसन्न रखना असम्भव कार्य था। जो अपने आपे को खोकर सर्वात्म भाव से उनकी ही हो जाय, वही उनकी झटक-को झेल सकता है। जिसके मन में तनिक रोष है, जिसके चित्त में छिपा हुआ भी यह भाव है, कि हम भी कुछ हैं, वह दुर्वासाजी का सेवा कर ही नहीं सकता। सेवा धर्म परम गहन है। सेवक सुख चाहे, तो वह सच्चा सेवक नहीं, उससे सेवा हो नहीं सकती। जो स्वामी के प्रति पूर्ण श्रद्धा नहीं रखता, सर्वात्मभाव से उनके अनुगत नहीं होता, उससे सेवा कार्य असम्भव है।

एक स्वामी के कई सेवक थे, किन्तु उनका एक पर अत्यधिक अनुराग था। दूसरे सेवकों को यह बात बुरा लगती थी। वे सोचते—"हम भी तो दिन रात सेवा करते हैं, हम भी तो अपने रक्त का पानी बनाकर रात दिन सेवा में जुटे रहते हैं, स्वामी हमारे ऊपर इतने सन्तुष्ट नहीं, जितने अमुक सेवक पर हैं।" एक दिन एक साहसी ने यह बात स्वामी से निवेदन कर भी दी—"प्रभो! आप अमुक सेवक पर अधिक ममत्व रखते हैं, हम पर उतना

नहीं। क्या हम आप के सेवक नहीं ? हमारी सेवा मे कोई त्रुटि है ?"

स्वामी ने कहा—"अच्छी बात है, इसका उत्तर फिर कभी देंगे।" इस प्रकार बात पुरानी पड गई।

एक दिन कोई वस्तु उस कहने वाले सेवक ने रास्ते में रख दी। स्वामी उधर से आये और जान बूझकर उसमे ठोकर मारी, वह वस्तु फूट गई। तब स्वामी क्रोध करके कहने लगे—"तुम लोग बड़े बुद्धि हीन हो, यह वस्तु मार्ग मे क्यों रख दी ? यह टूट फूट गई।"

सेवक ने कहा—"स्वामिन्! इसमे मेरा क्या दोष है ? इतना चौड़ा मार्ग था, आप बचाकर चले जाते। आपने तो जान बूझकर उसमें ठोकर मार दी।"

स्वामी ने कहा—"तुमने उसे मार्ग मे रखा ही क्यों ?"

सेवक बोला—"महाराज, कहीं न कहीं तो उसे रखना ही था। यह तो आप को सोचना चाहिए कि वस्तु मार्ग में रखी है, बचकर जायें।" स्वामी अब क्या कहते, चुप चाप चले गये।

कई दिनो के पश्चात् एक दिन चौकी पर काँच का एक पात्र रखा था, जिस सेवक के प्रति स्वामी का अनुराग था वह भी वहाँ झाड़ू दे रहा था। और भी सब आस-पास बैठे थे। स्वामी ने उस काँच के पात्र को उठाया और हाथ मे नीचे गिरा दिया। पात्र पत्थर पर गिरते ही चूर चूर हो गया। अब तो स्वामी ने लाल-लाल आँखें करके उस अपने निजी सेवक को बुलाकर डाँटना आरम्भ किया। और बोला—"पात्र क्यों फोड दिया ?"

उसने हाथ जोड कर दीनता के साथ कहा—"स्वामिन्! अपराध हो गया, मुझे क्षमा प्रदान करें। आगे से मैं सावधान

रहूँगा।" अन्य सभी सेवक ऐसा उत्तर सुनकर आश्चर्य-चकित रह गये और उससे जाकर बोले—"अरे भाई तुम्हारा इस में क्या अपराध ? तुमने तो पात्र को छुआ तक नहीं, यह तो स्वामी के हाथ से गिरकर फूटा है।"

उसने नम्रता के साथ कहा—"स्वामी जब क्रोध कर रहे हैं, तब निश्चय ही हमारा कोई न कोई अपराध होगा ही, क्योंकि मुझे पूर्ण विश्वास है कि स्वामी कभी मेरा अनिष्ट नहीं चाहते। उनके जो भी कार्य होते हैं, मेरे मङ्गल के ही निमित्त होते हैं। स्वामी के कार्यों मे त्रुटि निकालना यह सेवक का धर्म नहीं है। यदि मेरा अपराध न होता, तो वे मुझे कभी नहीं डाँटते। यदि उन्होंने बिना अपराध के मुझे डाँटा है, तो इसमे भी कोई रहस्य होगा, इसमें कल्याण की भावना छिपी होगी।"

उसके उत्तर को सुनकर स्वामी ने कहा—"इसके इसी भाव के कारण मेरा इस पर अधिक अनुराग है। यह अपनापन खोकर सर्वात्मभाव से अनुगत होकर सेवा करता है। अन्तःकरण तो एक ही है। जब वह मुझपर इतना विश्वास रखता है, तो मैं पत्थर हृदय तो हूँ ही नहीं। मेरा उसपर पूर्ण अनुराग है। इसके लिये कोई वस्तु अदेय नहीं। सेवा द्वारा इसने मुझे वश मे कर रखा है। सेवा तुम भी करते हो, किन्तु सेवक के अभिमान से करते हो। हम स्वामी के परिश्रमी सेवक हैं। तुम व्हार के अनुसार वर्ताव करते हो, अपनी आत्मा को अर्पण करके सेवा नहीं करते। अतः मेरा भी तुमसे व्यवहारिक ही स्नेह है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस कथा का सार यही है, कि सच्ची सेवा वही कर सकता है, जिसको स्वामी की सभी चेष्टाओं मे कल्याण ही कल्याण दीखे। जिसकी स्वामी पर पूर्ण श्रद्धा हो। राजा कुन्तिभोज ने सोचा—"मेरी पुत्री परम सुशीला है,

धर्म में इसकी रुचि है, क्रोध तो इसे कभी आता ही नहीं। कडवे वचन बोलना तो यह जानती ही नहीं। इसे ही मुनिवर दुर्वासा की सेवा मे नियुक्त कर दू। मुनि चाहे जितना क्रोध करें, यह कभी कुपित न होगी। यही सब सोचकर उन्होंने कुन्ती से कहा—"बेटी! अब तेरी सहनशीलता तथा धैर्य की परीक्षा के दिन हैं। देख, महामुनि दुर्वासा बडे क्रोधी हैं। चार महीने तुझे अपने सभी शारीरिक सुखों को तिलाञ्जलि देकर इनकी सेवा करनी होगी। तू कभी इनके किसी कार्य मे त्रुटि मत देखना, सर्वात्म-भाव से इनकी अनुगामिनी हो जाना। ये जो कहे, वही तू उसी समय अव्यग्र भाव से करना।"

हाथ जोडकर कुन्ती ने कहा—"पिताजी! यह मेरा परम सौभाग्य है। मैं प्राण पण लगाकर महर्षि की सेवा करूँगी।"

राजा पुत्री के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"बेटी! तेरा कल्याण भी हो जायगा।"

यह कहकर राजा ने मुनि की सेवा का कार्य कुन्ती को सौंप दिया। कुन्ती मनोयोग से मुनि की सेवा करने लगी। मुनि तो कुन्ती के धैर्य की परीक्षा के ही लिये ठहरे हुए थे। वे बात बात मे त्रुटि निकालने लगे। कभी सुन्दर भोजन भी बना है, तो उस में दोष लगाकर उसे छोड देते। कुन्ती, बिना कुछ कहे, दूसरा भोजन बनाती। कभी दिन भर नहीं आते, आधी रात को आकर गरमागरम भोजन माँगते। कुन्ती उसी समय बनाती। सारांश यह कि वे कुन्ती की भाँति भाँति से परीक्षाएँ करने लगे। किन्तु, कुन्ती ने कभी क्रोध नहीं किया। वह सब कुछ धैर्य के साथ सहती रही। अन्त में मुनि प्रसन्न हो गये और उससे वर माँगने को कहा। कुन्ती ने हाथ जोड कर कहा—"प्रभो! मुझे तो किसी

वर की आवश्यकता नहीं। आप जिसमें मेरा कल्याण देखें, वह वर, स्वयं ही आपका आग्रह हो, तो मुझे दे दें।

मुनि यह सुनकर और भी अधिक प्रसन्न हुए। उन्होंने ध्यान से देखा, कि कुन्ती के पति सन्तानोत्पत्ति करने में शापवश समर्थ न होंगे। अतः उन्होंने एक देवहूता विद्या कुन्ती को प्रदान की। उन्होंने कुन्ती को एक मन्त्र बताकर कहा—"तुम्हें जब जिस देवता को बुलाना हो, तब उसके रूप का ध्यान करके इस मन्त्र को पढ़ना, वह देवता तुरन्त तुम्हारे सम्मुख आ जायगा।"

हाथ जोड़कर नम्रता से कुन्ती ने यह विद्या ग्रहण की। मुनि इच्छानुसार चातुर्मास्य व्रत समाप्त करके चले गये।

कुन्ती लड़की ही तो थी, उसे बड़ा कुतूहल हुआ, कि मन्त्र पढ़ते ही देवता मूर्त्तिमान होकर कैसे आते होंगे। एक बार किसी देवता को बुलाकर मन्त्र की परीक्षा करूँ तो सही। देखूँ, किस रूप में देवता आते हैं।

संयोग की बात, उसी समय कुन्ती पिता के घर में ऋतुमती हुई थी। उस समय उसके शरीर में एक विचित्रता-सी प्रतीत होने लगी। ऋतु-स्नान करके उसने एक स्थान को स्वच्छ करके लीपा और वह मन्त्र की परीक्षा करने बैठ गई। उसने सोचा—"किस देवता को बुलाऊँ ?"

उसी समय भगवान् भुवन-भास्कर प्राची दिशि के रक्ताञ्चल को हटाकर उदित हुए। कुन्ती ने सोचा—"क्यों न मैं इन्हीं सर्वकर्मों के साक्षी प्रत्यक्ष देव श्री सविता देवता का आवाहन करू ?"

बस, फिर क्या था! सूर्यनारायण का ध्यान करके उसने दुर्वासा-दत्त मन्त्र पढ़ा। मन्त्र पढ़ते ही भगवान् सूर्यदेव तत्काल वहाँ आकर उपस्थित हुए। उनके असह्य तेज के कारण

कुन्ती की आँखों मे चकाचौंध छा गया। शुद्ध-स्वरूप भगवान् सविता को सशरीर मूर्तिमान देखकर चकितचित्त होकर कुन्ती कहने लगी—"भगवन्! बालचाचल्यवश मन्त्र की परीक्षा की उत्सुकता मे मैंने आपका आवाहन किया। मुझे आपसे कुछ निवेदन नहीं करना है। मेरी चपलता की ओर आप ध्यान न दें, इस अपराध के लिये मुझे क्षमा करें। अकारण मैंने आप को कष्ट दिया, इसमे आप मुझपर कुपित न हों और अब आप इच्छानुसार पधारें।

सूर्यदेव ने कहा—"इस मन्त्र का प्रभाव यह है, कि जिस देवताको तुम आवाहन करोगी, वह आकर तुम्हारे गर्भाधान संस्कार करेगा। मैं तुम मे गर्भ-स्थापन करने ही आया हूँ।"

दोनों कानों पर हाथ रखकर आश्चर्य, भय, भ्रम, लज्जा तथा दीनता के स्वर मे कुन्ती ने कहा—"हे जगत्पते! हे कर्म साक्षिन्! आप प्राणिमात्र के धर्म के साक्षी होकर भी कैसी अधर्म की बात कह रहे हैं। भगवन्! मैं तो कन्या हूँ। कन्या के गर्भ स्थापन कैसे हो सकता है?"

सूर्यदेव ने कहा—देवि! मेरा दर्शन अमोघ है, वह कभी व्यर्थ हो नहीं सकता। सुन्दरि! तुम चिन्ता मत करो, मैं बिना गर्भ स्थापन किये तो लौट नहीं सकता। इसमें मेरा तथा मुनि दुर्वासा की विद्या का अपमान है और तुम्हारा अनिष्ट भी है। अतः गर्भ तो मैं तुम्हारे स्थापन करूँगा ही, किन्तु मेरे प्रभाव से तुम्हारा कन्यापन नष्ट न होगा। पुत्र को जनकर भी तुम कन्या ही बनी रहोगी। तुम्हारी योनि दूषित न होगी।"

कन्या कुन्ती विवश थीं, इतने बडे देव के सम्मुख वे कुछ कह भी नहीं सकती थी। उन्हे अपने ऊपर बडा क्रोध आ रहा था। लज्जा, ग्लानि और संकोच के कारण वे अपने शरीर में ही सिकुडी

सी जाती थी। सूर्यदेव ने उनकी नाभि को स्पर्श किया और गर्भाधान-संस्कार किया। अपना तेजस्वी अमोघवीर्य स्थापित करके सूर्यदेव अपने लोक को चले गये। देवी कुन्ती ने तुरन्त ही एक परम तेजस्वी, अत्यंत सुन्दर, कवच-कुण्डल धारण किये द्वितीय सूर्य के समान परम प्रभावान एक पुत्र उत्पन्न किया। जब तक पुत्र का मुख नहीं देखा था, जब तक तो उन्हें ग्लानि, दुःख, घृणा और आत्मनिर्वेद के कारण संकोच था। अब जब उन्होंने पुत्र का मुख देखा, तो उनका मातृ-प्रेम उमड़ पड़ा। बार बार बच्चे का मुख चूमा, उसे छाती से चिपटाया! स्तनों में दूध आ गया था, उसे दूध पिलाया।

राजमहल के एक अत्यन्त एकान्त स्थाम में कुमारी कुन्ती ने पुत्र को प्रसव किया उस विशाल भवन में वह थी और थी उसकी एक वृद्धा धाय। रात्रि के समय कुन्ती ने उस सूर्य-सुतको जन्म दिया। उसके मन में अनेक भाव उठ रहे थे। कभी तो सोचती—"इस बच्चे को लेकर कहीं दूर देश चली जाऊँ, जहाँ मुझे कोई जान न सके। वहाँ भीख माँगकर पेट भरूँगी, इस बच्चे को जिलाऊँगी, या कहीं किसी की नौकरी-चाकरी कर लूँगी।" फिर सोचती—"मैंने तो महलों से बाहर कभी पैर रखा ही नहीं। प्रातःकाल ही पिता चारों ओर दूत भेजेंगे, मुझे पकड़वा लेंगे। उन्हें यदि यह बात मालूम हो गई, तो मेरा मरण हो हो जायगा। क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? हाय, राजपुत्री होकर भी आज मुझे कितना क्लेश हो रहा है! ऐसी बातें सोचकर देवी कुन्ती रो पड़ती, फिर बच्चे के मुख का देखकर उसे चूम लेती। यह कैसा सुन्दर शिशु है। अपने पिता के समान है। संसार बड़ा निर्दय है। कौन विश्वास करेगा, कि यह जगत्पति सूर्यदेव का पुत्र है? अब तो मुझे इस बालक का मोह छोड़ना ही

होगा। यह जगत्पति का पुत्र है, अपने भाग्य से, अपने प्रारब्ध-वश, जहाँ भी रहेगा, वहीं सुख से रहेगा।" इन्हीं विचारों की धारा में माता बहने-उतराने लगीं।

वर्षाऋतु थी, निशीथ की वेला थी, चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। छोटी-छोटी बूँदें पड़ रही थीं। घन-घटायें घिरी हुई थीं, बिजली चमक रही थी, बीच-बीच में घन-गर्जना हो रही थी। धाय ने एक अत्यंत सुन्दर पेटिका प्रथम से ही बना रखी थी। वह पेटिका इतनी कारीगरी से बनवाई गई थी कि उसे चाहे जितने अगाध जल में डाल दो, वह डूब नहीं सकती थी। उसमें वायु जाने के भी मार्ग थे। उसमें अत्यन्त गुलगुले गद्दे बिछे हुए थे। कई तकिये रखे हुए थे, खिलौने भी थे। धाय ने उस पर कुंकुम के थापे लगाये थे। कलावे से उसे लपेटा था। हरिद्रा, दूर्वा, सुपारी, अक्षत, दधि आदि मंगल-द्रव्य उस पर लगाये हुए थे। उसे उठाकर धाय ने राजकुमारी से कहा—"बेटी! चलो, डरो मत।"

बड़े कष्ट से, अपने हृदय के टुकड़े को छाती से चिपकाकर, काली साड़ी पहन और काली चद्दर ओढ़कर, रोते-रोते कुन्ती वृद्धा धाई के पीछे-पीछे चुपके-चुपके महलों के पीछे के मार्ग से चली। संसार प्रगाढ़ निद्रा में सो रहा था, केवल दो ही जाग रहे थे एक कुन्ती और दूसरी उसकी वृद्धा धाय। कुन्ती-पुत्र माता की गोद में उसकी छाती से चिपटा हुआ झपकियाँ ले रहा था। महलों से कुछ दूर पर एक छोटी सी बरसाती नदी थी। आज-

कल वह बड़े वेग से बह रही थी, चर्मणवती (चम्बल) की सहायक नदी थी। कुछ दूर चल कर वह चर्मणवती में मिल गई थी। कुन्ती अपनी धाय के साथ उसी नदी-तट पर पहुँची नदी के वेग को देखकर उसका हृदय फटने लगा उसने रोते रोते बड़े कष्ट से बच्चे को अपने स्तनों का दूध पिलाया और फिर बिलखते हुए बोली—"बेटा! तुम इतने बड़े देवता के पुत्र होकर भी एक राक्षसी के गर्भ से क्यों उत्पन्न हुए? हाय! ऐसी कौन-सी मेरे समान हृदय-हीना माता होगी, जो अपने प्राणों से भी प्यारे हृदय के टुकड़े को ऐसे अगाध जल में निराधार छोड़ दे। वत्स! जाओ, किसी भाग्यवती की कोख पूरी करो। वह स्त्री धन्य होगी, जो पुत्र मानकर तुम्हारा पालन करेगी। मेरे लाल, सम्पूर्ण प्राणियों को प्रकाश देनेवाले तुम्हारे पिता भगवान् सविता तुम्हारी सर्वत्र रक्षा करें। मैं तुम्हे वरुणदेवके हाथों सौंपती हूँ और सदा के लिये सौंपती हूँ। जीवन मे फिर तुम कभी मुझे मिलोगे या नहीं, इसे भगवान् ही जानें।" ऐसा कहते-कहते रोते रोते माता ने उस पेटिका मे पुत्र को सुलाकर नदी के प्रवाह में बहा दिया। कुन्ती के शोकाश्रुओं को अपने जलमे एकाकार करती हुए वह सरिता उस पेटिका को नचाती हुई आगे बढ़ी। जब तक वह पेटी दीखती रही, माता खड़े-खड़े रोती रही। जब वह आँखों से ओझल हो गई, तब कटी हुई लता की भाँति मूर्च्छित होकर कुन्ती गिर पड़ी। बूढ़ी धाय ने अपने काँपते हुए हाथों से उसे उठाकर धैर्य धारण कराया और बार बार समझाते हुए बोली—"बेटी!

अब शोक करने से काम न चलेगा। तेरा पुत्र सामान्य नहीं है। वह सविता का सुत है। उसका प्रारब्ध उसकी सदा रक्षा करेगा।" इस प्रकार समझा बुझाकर धाय कुन्ती को महलों में ले गई। इस घटना को किसी और ने नहीं जाना।

इधर जिस मंजूषिका में कुन्ती पुत्र कर्ण बिठाकर •अश्व नाम की छोटी नदी मे बहाये गये थे, उस मंजूषिका को बहाती हुई वह नदी चर्मणवती नदी मे ले आई। अश्व नदी ने उस पेटिका को चर्मणवती को सौंप दिया। अब चर्मणवती उसे बहाने लगी। चर्मणवती नदी (इटावे के समीप) श्री यमुनाजी मे आकर मिलती है। अतः उसने उसे यमुनाजी को सौंप दिया। अब वह बालक पेटी मे लेटा हुआ यमुना नदी मे बहने लगा। यमुना तीर्थराज प्रयाग मे आकर गङ्गा जी मे मिलती हैं। अतः यमुनाजी ने उस पेटी को गङ्गाजी को सौंप दिया। गङ्गाजी उसे बहाते बहाते अंग देश की राजधानी चम्पापुरी (चम्पारन) के समीप ले गई। वहाँ सूतराज महाराज अधिरथ स्नान कर रहे थे। वे पुत्र हीन थे। उन्होंने मल्लाहों से उस मंजूषा को जल से बाहर निकलवाया। उसमे अत्यन्त सुन्दर शिशु देखकर उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उसे उन्होंने उसी समय अपना पुत्र मान लिया और अपनी पत्नी राधा को उसे दिया। राधा की रिक्त कोख भर गयी। कर्ण कौन्तेय न कहाकर राधेय कहाये। भाग्य की विडम्बना तो देखिये! देव-पुत्र होकर भी ये भाग्य-वश सूतपुत्र कहलाये और इसी कारण पग-पग, पर अपमानित हुए।

इतने बली, शूर-वीर, दानी; तेजस्वी, तपस्वी होने पर भी भाग्य इनके प्रतिकूल था। ये भगवान् की सगी फूआ के पुत्र थे, अर्जुन की सगी माता के उदर से उत्पन्न हुए थे, भाग्य के फेर से ये दोनों ही उनके विरुद्ध हो गये और दोनों ने युद्ध में अन्याय से उन्हें मार डाला। भगवान् तो अन्याय करते नहीं। फिर उन्होंने उन्हें अन्याय से क्यों मारा—यह दूसरी कथा है। अवतार लेकर तो वे सब कुछ करते हैं। खेल में तो धर-मार, गाली-गलौज सब कुछ होता है। यह दूसरी बात है, पात्रों के मन पर उन घटनाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। खेल की बातों में सत्यता नहीं। नाटक के समाप्त होते ही वे सब बातें भी समाप्त हो जाती हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"हाँ, तो मुनियो! मैं तो बहक गया। मैं तो आपको भगवान् की बुआओं का वंश सुना रहा था न? मैं वसुदेवजी की पाँच बहनों के सम्बन्ध में बोल रहा था। उन पाँचों में सबसे बड़ी पृथा थी, जिसे वसुदेवजी के पिता महाराज शूर ने अपने फुफेरे भाई कुन्तिभोज को दे दिया था, जिससे उदर से कन्यावस्था में सूर्यसुत कर्ण का जन्म हुआ। उसका विवाह महाराज परीक्षित् के परदादा राज राजेश्वर पाण्डु के साथ हुआ, जिसके उदर से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन उत्पन्न हुए। अब आप पृथा से छोटी बहनों के वंश को भी अत्यन्त संक्षेप में सुनिये।"

पृथा से छोटी बहन, जो श्रुतदेवा थी, उसका विवाह करूष-

नरेश वृद्धशर्मा के साथ हुआ, जिसका पुत्र–दन्तवक्र हुआ, जो पूर्वजन्म में दिति पुत्र हिरण्याक्ष था। अबके वह भगवान् का फुफेरा भाई बनकर उत्पन्न हुआ। किन्तु भगवान् के लिये तो कोई अपना पराया है ही नहीं। उसे फुफेरा भाई समझकर भी भगवान् ने छोडा नहीं, उसे मारकर पुनः वैकुण्ठ में पहुँचा दिया।

भगवान् की तीसरी बुआ श्रुतकीर्ति का विवाह कैकय-नरेश धृष्टकेतु के साथ हुआ, जिसके पाँच पुत्र हुए। उनमें सन्तर्दन सबसे बडे थे। ये सब कैकय राजकुमार कहलाये।

चौथी बूआ राजाधिदेवीका विवाह अवन्ति-नरेश महाराज जयसेन के साथ हुआ, जिससे विन्द और अनुविन्द नामक दो पुत्र हुए, जो महाभारत में काम आये। इनके एक पुत्री भी थी, जिसका नाम मित्रविन्दा था। उसके साथ भगवान् ने अपना विवाह कर लिया। द्वारिका में जाकर उन्होंने दाक्षिणात्य पद्धति का अनुसरण किया, तभी तो बूआ की बेटी को अपनी बहू बना लिया।

पाँचवीं भगवान् की बूआ श्रुतश्रवा का विवाह चेदिदेश के राजा दमघोष के साथ हुआ, जिससे शिशुपाल नामक पुत्र हुआ, जो पूर्वजन्म में दिति पुत्र हिरण्यकशिपु था। यह भी अबके फुफेरा भाई ही बना था। भगवान् ने इसका भावी बहू को बल पूर्वक हरण करके अपनी बहू बना ली और इसका भी सिर धर्मराज के राजसूय यज्ञ में धड से पृथक् कर दिया। यह प्रसङ्ग आगे श्रीकृष्ण-लीला प्रसङ्ग में विस्तार के साथ वर्णन होगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने संक्षेप में भगवान् की बुआओं के वंश का वर्णन किया। अब आप भगवान् के चचेरे-मौसेरे-सगे भाइयों का वर्णन सुनिये।

छप्पय

धरि मंजूषा माँहि नदी महँ वत्स बहायो।
चम्बल-यमुना गङ्ग बहत चम्पारन आयो॥
अधिरथ पकर्‌यो तुरत मुदित ह्वै पुत्र बनायो।
राधा कूँ दै दयो, कर्ण राधेय कहायो॥
पृथा विवाही पाण्डु कूँ, पाण्डव जाके भये सुत।
श्रुतदेवा के भयो खल, दन्तवक्र सुत पापयुत॥

शूर-सुतों की सन्तति

(८१०)

यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः ।
तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः ॥१

(श्रीभा० ९ स्क० २४ अ० ५६ श्लो०)

छप्पय

केकय कूँ श्रुतकीति विवाही बूआ हरि की।
चौथी बूआ भई सुरानी अवन्तीश की ॥
श्रुतश्रवा ने चेदिराज शिशुपाल हु जायो ।
मारि चक्र तैं कृष्णचन्द्र वैकुण्ठ पठायो ॥
नौ चाचा भगवान् के, कछु मौसिनि के पति भये ।
कछु इत-उत तैं बहू लै, बेटा-वारे बनि गये ॥

वनवारी की वशी जिन बाँसों की बनी थी, उन बाँसों के वंश-वारे अपने को अत्यन्त ही भाग्यशाली समझते थे, कि हमारे वश मे उत्पन्न किसी बाँस की बेटी वंशी का सम्बन्ध भगवान् वासुदेव के अधरों के साथ हो गया। जब-जड बाँसों मे भी अपने वंशज के भगवत्-सम्बन्ध से पुलक, रोमाञ्च, आदि सात्विक भाव हो जाते हैं, तो जड नहीं हैं, चैतन्य हैं, और जिनके वंश में साक्षात् वनवारी ही स्वय उत्पन्न हो जायँ, तो उनकी प्रसन्नता

१—श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"जब जब ससार में धर्म का क्षय और पाप की अभिवृद्धि होती है, तब-तब सबके स्वामी भगवान् हरि अपने आपको उत्पन्न करते हैं अर्थात् अवतार धारण करते हैं।"

का तो करना ही नहीं ! वह कुल-का-कुल पावन बन जाता है। उस वंशवाले सभी वन्दनीय और कीर्तनीय बन जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मैं आप को एक कथा सुनाता हूँ। एक पण्डित जी थे। उनके एक बड़ी भोली-भाली लड़की थी। पिता उसे बहुत उपदेश देते। जो उपदेश भगवत्सेवा-सम्बन्धी होता, उसे तो वह बड़े ध्यान से सुनती; जो संसारी बात होती, उसे टालमटोल कर देती। पण्डितजी ने उसका विवाह एक लड़के के साथ कर दिया। विदा के समय भोली-भाली बच्ची पिता के पास आकर बैठ गई। पिता उसे उपदेश देने लगे—"देख, बेटी ! पति को परमेश्वर मानकर उनकी पूजा करना, सास-ससुर का आदर करना, दौरानी-जिठानियों से मेल रखना, देवर-जेठों की रोटी में और अपने पति की रोटी में भेद-भाव न करना, जो देवर काम न करते हों, उनसे कभी भी कड़े वचन न कहना, सास ननद की बातों को धैर्य से सुनना, बड़े-बूढ़े को देखकर घूँघट मार लेना।" इसी तरह की बहुत बातें वे उसे बताते रहे। अन्तमें उन्होंने पूछा—"बेटी ! तेरी बुद्धिमें कुछ बात बैठी ?"

लड़की ने सरलता से कहा—"हाँ, पिताजी ! बैठी।"

पिता ने उल्लास से पूछा—"क्या बैठी बेटी ?"

लड़की बोली—"यही पिताजी ! कि जब से आपने कहना आरम्भ किया है, तब से चीटियों के इस बिल में से एक लाख बत्तीस हजार पाँच सौ पचीस चीटियाँ निकली हैं।"

पिता ने यह सुनकर माथा ठोका,—हाय ! मेरे उपदेश को इसी प्रकार इसने सुना ! मेरी बात की ओर ध्यान न देकर यह चीटियों को गिनती रही।" सो महाराज ! मुझे भी कुछ ऐसा प्रतीत होता है, कि जब मैं भक्त और भगवान् का कोई आख्यान कहता हूँ, तब तो आप बड़े मनोयोग से ध्यानपूर्वक सुनते हैं;

किन्तु जब मैं वंशावली कहता हूँ, तब आप अन्यमनस्क भाव से उसे सुनते रहते है और माला सटकाते रहते है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह आप कैसे कहते है? हम तो आप की कथा बडे ध्यान से सुनते है।"

इस पर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! यदि आप कथा ध्यान से सुनते हैं, तो बताइये, भगवान् के कितनी मौसियाँ थीं और उनके क्या-क्या नाम थे।"

यह सुनकर शौनकजी हँस पडे और बोले—"सूतजी! सुन लो हमारी सच्ची बात। भगवान् की मौसियो की हमने खीर तो खाई नहीं, न उनकी छठी की कसार और पूडियाँ ही उडाईं, जो हमे उनके नाम याद हो। हम तो भगवान् को जानते हैं, उनके नाना देवक और उग्रसेन को जानते हैं, उनकी माता देवकी को जानते हैं, और उनके एक मामा कंस को भी जानते हैं। उनकी मामी, मौसी, चाची, ताई—इन सब से हमे क्या प्रयोजन? हाँ, आप कथावाचक हैं, आप को सब के नाम स्मरण रखना आवश्यक है। अतः आप कथा कहते चलें, हम सुनते चलते हैं। जो स्मरण रखने योग्य बात होगी, उसे हम स्मरण कर ही लेंगे।"

इस पर सूतजी बोले—"हाँ, महाराज! सत्य है आप का कथन। किन्तु भगवन्! हमें तो कोई कथा कहनी होती है, तो प्रथम उसकी भूमिका बाँधनी पडती है, उसकी सब सामग्री जुटानी पडती है। जैसे कोई शिल्पी किसी यन्त्र को बनाता है तो छोटे बडे सभी प्रकार के आवश्यक औजारो को रख लेता है, किस समय किस की आवश्यकता पड जाय। कभी-कभी तो जिनको रखता है, उनमे से किसी का उपयोग होता भी नहीं। अतः श्रीकृष्ण चरित के लिये मैं सब सामग्री जुटा रहा हूँ। अत्यंत संक्षेप मे भगवान् के नौ चाचाओ का, उनकी मौसियों का,

वृत्तान्त कहकर फिर भगवान् के ही चरित का आरम्भ करूँगा।"

शौनकजी बोले—"अच्छी बात है, सूतजी! एक साँस में सुना दीजिये भगवान् के नौ चाचाओं का वंश।"

सूतजी बोले—"लीजिये महाराज! सुनिये। फिर यह मत कहियेगा, कि घास-सी काट गये। देवभाग एक, देवश्रवा दो, आनक तीन, सृञ्जय चार, श्यामक पाँच, कङ्क छः, शमीक सात, वत्सक आठ, और वृक नौ—ये नौ तो भगवान् के चाचा थे। कंसा एक, कंसवती दो, कङ्का तीन, शूरभू चार और राष्ट्रपालिका पाँच ये पाँच भगवान् की मौसी थी। वसुदेवजी ने सोचा—"अब कहाँ नई नई ससुराल बनाते फिरें। अपने भाइयों का विवाह भी अपनी ही ससुराल में कर लें अतः अपनी पाँचों सालियों का विवाह अपने पाँचों भाइयों के साथ कर लिया। चार शेष रह गये, सो उनका इधर-उधर से जोड़ तोड़ मिलाकर घर बसा दिया। इसलिये भगवान् की पाँचों मौसियाँ मौसी भी थीं और चाची भी थीं। बड़ी मौसी कंसा का विवाह बड़े चाचा देव भाग के साथ हुआ। उन दोनों से भगवान् के चित्रकेतु और बृहद्बल ये दो चचेरे भाई हुए। कंसवती मौसी का विवाह देव श्रवा चाचा से हुआ। उनके सुवीर और इषुमान ये दो पुत्र हुए। आनक चाचा की पत्नी कङ्का हुई, जिनके गर्भ से सत्याजित् और पुरुजित् का जन्म हुआ। सृञ्जय चाचा की बहू राष्ट्रपालिका थीं, जिनसे वृष और दुर्मर्षणादि कई पुत्र हुए। श्यामक चाचा ने शूरभूमि के गर्भ से हरिकेश और हिरण्यान ये दो पुत्र उत्पन्न किये। अब मौसी तो हो गईं समाप्त। चार चाचा और शेष रह गये। उनमें से वत्सक चाचा ने एक मिश्रकेशी अप्सरा से विवाह कर लिया, उससे वृक आदि कई पुत्र हुए। वृक चाचा की भी दुर्वाक्षी नाम्नी अप्सरा ही पत्नी थी। उससे तक्ष, पुष्कल और

शाल आदि कई पुत्र हुए। शमीक चाचा की सुदामिनी नाम्नी रानी थी, उससे सुमित्र और अर्जुन पाल आदि कई पुत्र हुए। कङ्क चाचा की स्त्री का नाम कर्णिका था, उससे ऋतधाम और य ये दो पुत्र हुए। यह अत्यन्त संक्षेप मे मैंने वसुदेवजी से छोटे भाइयों के वंश का वर्णन किया। अब आप वसुदेवजी के वंश को भी सुनिये।

शौनकजी बोले—"सूतजी! इस वंश विस्तार को वहीं समाप्त भी करोगे, या कहते ही चलोगे। महाभाग! अब बहुत हो गया, हमे आप श्रीकृष्ण चरित सुनावें।"

सूतजी बोले—"अब बस महाराज! आ गया कर काँटे पर मामला। "बहुत गई थोडी रही, वह भी बीती जात।" अब आप सोचें भगवान् के सम्बन्ध से कितनो के वंश का वर्णन कर डाला। भगवान् के सगे भाइयो के नाम न बतावे तो अनुचित होगा। कोई बहुत नहीं। वसुदेवजी की तेरह ही तो पत्नियाँ थीं। सब के ये ही आठ आठ दश दश पुत्र हैं। उन सबका नाम निर्देश ही तो करना है। हाँ, तो सुनिये वसुदेवजी की छः और सात, तेरह पत्नियाँ थीं। पौरवी, रोहिणी, भद्रा, मदिरा, रोचना और इला, छः तो ये हुईं और धृतदेवा, शान्तिदेवा, उपदेवा श्रीदेवा, देवरक्षिता, सहदेवा और देवकी सात ये महाराज देवक की पुत्री—इस प्रकार ये सब तेरह थीं। इनमे रोहिणी के गर्भ से बलदेवजी, गद, सारण, दुर्मद, विपुल, ध्रुव और कृत आदि कई पुत्र उत्पन्न हुए। पौरवी से सुभद्र, भद्रबाहु, दुर्मद, भद्र और भूत आदि बारह पुत्र हुए। मदिरा से नन्द, उपनन्द कृतम और शूर आदि पुत्र हुए। कोशल देश की जो भद्रा थी जिसका कोशल्या भी नाम था, उसने केशी नाम का एक ही कुल की कीर्ति को उज्वल करने वाला पुत्र पैदा किया। रोचना

हस्त हेमाङ्गदादि कई पुत्र जने। इलाने उरु, वल्कल आदि वीर यादवों को उत्पन्न किया। ये तो छः पत्नियों के वंश हुए, अब जो महाराज देवक की सात पुत्रियाँ थीं, जो सबकी सब वसुदेवजी को विवाही थीं, उनके भी वंश को सुनो।

सबसे बड़ी घृतदेवा के गर्भ से वसुदेवजी ने महा तेजस्वी विदृष्ठ नामक 'शूरवीर' वली पुत्र को पैदा किया। शान्ति देवा के श्रम और प्रतिश्रु त नामक कई पुत्र हुए। उपदेवा के कल्प, वर्ष आदि दश क्षत्रिय राजा उत्पन्न हुए। श्रीदेवा के वसु, हंस, तथा सुतश आदि छः पुत्र हुए। देवरक्षिता ने नौ पुत्रों का जन्म दिया, जिनमें गद मुख्य थे। सहदेवा ने आठ पुत्रों को उत्पन्न किया, मानो आठों वसु पुत्र रूप से उत्पन्न हुए हों। उनमे पुरु और विश्रु त ये मुख्य थे।

अब सबसे छोटी पत्नी देवकीमे वसुदेव ने आठ पुत्र और एक पुत्री पैदा की पुत्री सबसे छोटी थी, उसका नाम सुभद्रा था और कीर्तिमान्, सुषेण, भद्रशेन ऋजु,सम्मर्दन,भद्र,और शेषावतार भगवान् संकर्षण वसुदेवजी—ये सात पुत्र थे।

शौनकजी वोले—"सूतजी! आठवें वसुदेवजीके पुत्र कौन थे ?"

हँसकर सूतजी वोले—"अजी, महाराज! इतनी गाथा इन आठवें ही देवकी सुत के लिये तो गाई गई। ये देवकी के आठवें ही सुत स्वयं साक्षात् श्रीहरि थे। ये ही स्वयं साक्षात् परात्पर प्रभु भगवान् वासुदेव थे। इनका जन्म भाद्र कृष्ण जन्माष्टमी के दिन हुआ था। इन अज, अच्युत, अव्यक्त, अनादि, अचिन्त्य श्रीहरि ने भाद्रपद की अष्टमी को अर्धरात्रि के समय अवतार धारण किया था। उनकी अवतार कथा को अब मैं आगे वर्णन करूँगा। आप दत्त-चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

शूर पुत्र वसुदेव वंश कूँ अब हीं गाऊँ।
तेरह रानी हतीं सबनि के नाम गिनाऊँ॥
सुनहु रोहिणी, इला, पौरवी अरु धृतदेवा।
भद्रा, मदिरा, देवरक्षिता अरु सहदेवा॥
शान्तीदेवा सुन्दरी, श्रीदेवा हू नाम की।
उपदेवा इन सबनि महँ, सबतैं छोटी देवकी॥

श्रीकृष्ण रूप-सुधा की बानगी

(८११)

यस्याननं मकरकुण्डलचारुकर्ण-
भ्राजत्कपोल सुभगं सविलासहासम् ।
नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो ।
नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च *॥
(श्री भा० ९ स्क० २४ अ० ६५ श्लो०)

छप्पय

आठ सात दश एक भये सबके ही सुतवर ।
आठ देवकी जने भये अष्टम ,श्रीगिरधर ॥
जब जब होवे धर्म नाश बाढै अघ अतिशय ।
तब तब लै अवतार करहिँ हरि धर्म अभ्युदय ॥
कौन कहि सके कौतुकी, के कारन अवतार का ।
कौतुक-वश क्रीड़ा करत, काज सरत ससार को ॥

संसार में जितना प्रकाश है,सब सूर्य, चन्द्र और अग्नि का ही है। इनको भी किसी एक ही स्थान से प्रकाश मिलता है। हम

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जिन श्रीहरि का मुखारविन्द मकराकृत-कुण्डल-मण्डित कमनीय कर्णों से, कान्तिमय कमनीय कपोलों से अत्यन्त ही सुशोभित था, जिस पर विलासयुक्त हास छिटक रहा था, उस नित्य प्रफुल्लित मुखारविन्द के मकरन्द को मुदित हुये नर-नारी अपने नयन-पुटों से पान करते हुए, कभी भी तृप्त नहीं होते थे, तथा निमिपर कुपित होते थे।"

नगर मे विद्युत् का प्रकाश देखकर भौचक्के-से रह जाते है, किसी श्रीमान् के घर अत्यधिक प्रकाश देखकर हम उनकी प्रशंसा करने लगते हैं। उस समय हम इस बात को भूल ही जाते हैं, कि श्रीमान् के घर प्रकाश विद्युत् केन्द्र से आ रहा है, जहाँ से सभी को प्रकाश मिलता है। यदि हमारी दृष्टि केन्द्र की ओर रहे, तो हमें आश्चर्य, विस्मय, सम्मोह तथा सोच न हो। संसार मे हम किसी स्त्री-पुरुष, युवक, युवती, बालिका-बालक तथा अन्य किसी वस्तु मे सौंदर्य देखते हैं, तो विस्मित हो जाते हैं। ओहो! कैसा सौंदर्य है, कितना माधुर्य है, कैसा लावण्य है! उस समय हमे यह स्मरण बना रहे, कि जहाँ से यह सौंदर्य इस वस्तु मे आया है, उस सौंदर्य के सम्मुख यह सौंदर्य उतना भी नहीं, जितना अथाह अगाध सागर का एक बिन्दु, तो हम उस सौंदर्य पर मोहित होकर अपने संसार-बन्धन को और सुदृढ़ न कर लें। उस अचिन्त्य, अलौकिक, अद्भुत, अपार सौंदर्य की छटा कभी कभी अच्युत अवनि पर अवतरित होकर भाग्यशाली भक्तों को दिखाते हैं और उनके नेत्रो को सफल बनाते हैं। जिन्होंने उस सौंदर्य की राशि की एक बार भी बाँकी झाँकी कर ली, वे निहाल हो गय, धन्य हो गये, कृतार्थ हो गये!

भगवान के सभी अवतार सुन्दर हैं, उनकी सभी चेष्टायें सुन्दर हैं, वे जो रूप रख लें वही सुन्दर है। जो वस्त्र आभूषण धारण करलें, वे भी अंगों के सौन्दर्य से सुन्दर हो जाते है। भगवान् देवता, ऋषि, मनुष्य, तिर्यक, पशु, पक्षी, जलचर, नभचर, भूचर सभी योनियों मे अवतरित हुए। सभी उनके रूप को देखकर मुग्ध हुए, अपने पने को भूल गये, किन्तु इस श्रीकृष्णावतार मे तो उन्होंने सौंदर्य की पराकाष्ठा कर दी। ऐसा सुन्दर स्वरूप न कभी पृथ्वी पर प्रकट हुआ, न उसके अतिरिक्त अन्य कभो

प्रकट हो ही सकता है। स्थावर, जङ्गम, चर-अचर की तो बात ही क्या, वे स्वयं ही अपने अद्भुत रूप को निहारकर आत्म-विस्मृत बन जाते। जब भी वे आदर्श में अपना रूप अवलोकन करते, तब स्वयं ही कह उठते, ओहो ! इतना सौन्दर्य ! क्या सचमुच मैं इतना सुन्दर हूँ ? फिर देखते—क्षण-क्षण में वह रूप नवीन नवीन बन जाता। पल-पल मे वे उसे भूल जाते और विस्फारित नेत्रों से देखते। यह सौन्दर्य कैसा है ? यह माधुर्य कहाँ से आया ? जब वे स्वयं ही अपने रूप पर विमुग्ध हो जाते हैं, तब अन्य को क्या वार्ता ? कौन उस रूप का वर्णन कर सकता है ? कौन उस सौन्दर्य के सम्बन्ध में साधिकार कुछ कह सकता है ? हम सब तो उसकी छाया को ही कहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! देवकी के अष्टम गर्भ से स्वयं साक्षात् परात्पर प्रभु प्रकट हुए ?"

शौनकजी बोले—"सूतजी ! भगवान् को क्या आवश्यकता थी, जो इस कोलाहलपूर्ण संसार मे, इस दुःखपूर्ण मर्त्यधर्मा मर्त्यलोक मे आकर अवतरित हुए।"

सूतजी बोले—"महाराज ! भगवान् को धर्म अत्यधिक प्रिय उनका हृदयज पुत्र है। यद्यपि अधर्म भी उनकी ही पीठ से पैदा हुआ पुत्र है, किन्तु उसका वे उतना आदर नहीं करते। पृथ्वी पर जब-जब पाप का अभ्युदय हो जाता है, धर्म का जब-जब संसार मे क्षय हो जाता है, तब-तब वे सर्वेश्वर सर्वात्मा श्रीहरि अनेक रूप रखकर अवतरित होते हैं।"

शौनकजी बोले—"सूतजी ! क्या साधु-परित्राण और दुष्कृत-विनाश ही भगवान् के अवतार का एकमात्र कारण है ?"

सूतजी हँसकर बोले—"नहीं, महाराज ! उनके अवतार के यथार्थ कारण को कौन कह सकता है ? दुष्टों का विनाश और

शिष्टो का पालन तो उनके सकल्पमात्र से ही हो सकता है। जीवो की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश—यह तो उनकी माया विलास का ही हेतु है। जिनका अहैतुकी अनुग्रह ही, इन जन्म मरणादि की सर्वथा के लिये निवृत्ति और आत्मस्वरूप सुखस्वरूप की प्राप्ति, का हेतु है, उनके अवतार के सम्बन्ध मे "इत्थम्भूत" कहना यह दुस्साहसमात्र ही है, अज्ञता है, मूर्खता है।

उन प्रभु के अवतार के सम्बन्ध मे यदि कुछ कहा भी जा सकता है, तो यही कि वे भक्तो पर कृपा करने के लिये ही अवनि पर अवतरित होते हैं। अपने अनुगत आश्रितों पर अनुग्रह करने के अतिरिक्त और कोई निश्चित कारण बुद्धि मे आता नहीं। गो, जो अपने उदर से स्तनो मे दुग्ध उतारती है, उसका कारण अपने वत्स के प्रति कृपा ही है। वह अपने बछडे के स्नेह से दुग्ध उतारती है, उतारने पर उसे कोई दुह ले, कोई पी ले, कोई अपने बल को बढा ले, कोई अपनी आत्मा की तृप्ति कर ले, कोई अपने पराक्रम-वीर्य को बढा ले, गो की दृष्टि तो वत्स पर ही रहता है। माता के दुग्ध पर प्रधान अधिकार तो वत्स का ही है।

कलियुग मे उत्पन्न होनेवाले जीव अत्यन्त ही दीन होंगे, वे दु खी और शोकयुक्त होंगे। जिनका ध्यान करने से उनका दु ख शोक दूर हो, यही भक्तवत्सल भगवान् को चिन्ता हुई। उन्होने सोचा—"अल्प मे सुख नहीं, क्षुद्र मे सुख नहीं, विनाशी मे रस नहीं। क्यो न मैं ही अद्भुत रूप रखकर इन दु खित क्लान्त जीवो के मध्य मे अवतरित होऊँ? क्यो न मैं ही अपना अपार सौन्दर्य माधुर्य, लावण्य, दिखाकर इन्हे शान्ति की सुधा का पान कराऊँ? मेरे रूप का ध्यान करके अनन्त काल तक जीव सुख-शान्ति का अनुभव करेगे। उनके क्लेश, दु ख शोक,सताप तथा आधिव्याधि सभी का आत्यन्तिक नाश हो जायगा। मेरे यश-रूप अमृत का

कर्ण-पुटों द्वारा प्रेमपूर्वक पान करने से प्राणी इस भव पयोधि से परिश्रम बिना ही पार पहुँच जायँगे।" यही सब सोचकर उन्होंने अज्ञान को निवृत्त करनेवाला अपना परम पवित्र सुयश संसार में फैलाया। अपनी त्रैलोक्यमोहिनी मूरति का पृथ्वी पर प्रादुर्भाव किया। जिस अनुपम रूप के साक्षात् दर्शन से या ध्यान में दर्शन करने से जीव समस्त अशुभों से तत्काल छूट जाता है, उनके यश, रूप पवित्र तीर्थ में अवगाहन करनेवाले साधुजन, उसे अपने कर्ण पुटों से पुनः पुनः पान करनेवाले पुण्य पुरुष, मोक्ष की प्रतिबन्ध स्वरूपा कर्मवासना को तत्काल त्यागकर संसार-बन्धनों से दास के लिये छूट जाते हैं। पुनः पुनः पान न भी कर सके, तो भी एक बार ही श्रीहरि के यशामृत का श्रोत्ररूप अञ्जलि से आचमन मात्र ही करने से कल्याण हो जाता है।

इस श्रीकृष्णावतार में भगवान् ने बड़ी-बड़ी श्रुत-मधुर, त्रैलोक्य पावन, हृदय तथा इन्द्रियों को सुख देनेवाली क्रीडायें कीं, जो मुक्तों को, मुमुक्षुओं को, नित्यों को तथा बद्ध जीवों के लिये भी आनन्द देनेवाली हैं। ज्ञानियों को, वीरों को, यहाँ तक कि संसारी विषयियो को भी वे लीलायें अच्छी लगती हैं। उस समय असुर अवनि पर राजाओं के रूप में अवतीर्ण हो गये थे। अनेकों अक्षौहिणी सेना के वे सब स्वामी बन गये थे, वे बड़े दुस्साहसी, अभिमानी, क्रूर तथा तपस्या में निरत थे, और कोई उन्हें मार नहीं सकता था, क्योंकि उनमें तप का भी बल था। (भगवान् के अतिरिक्त ऐसे सामर्थ्ययुक्त क्रूरकर्मा का वध कौन कर सकता था? पृथ्वी उनके भार से आक्रान्त हो गई। उसने दीन-वाणी से विश्वम्भर की विनय की। सबके घट घट की जानने वाले, गो-ब्राह्मणों के प्रतिपालक, ब्रह्मण्यदेव गोपाल भू का भार उतारने के निमित्त अपने बड़े भाई शेषावतार श्री संकर्षणजी

के सहित अवतीर्ण हो गये और अवतार धारण करके उन भगवान मधुसूदन ने ऐसे-ऐसे अनेकों कठिन कार्य किये, जिनका देवेश्वरगण अन्तःकरण से भी अनुमान नहीं कर सकते।

महाराज! जिनकी लावण्यमयी ललित लीलाओं का भोजवंशी, वृष्णि-वंशी, अन्धक-वंशी, मधुवंशी, शूरसेन, दशार्ह, कुरु, सृञ्जय तथा पाण्डुवंशीय वीर निरन्तर गान करते हैं और उनकी प्रशंसा करते हैं, उन श्रीहरि ने अपनी चेष्टाओं से संसार को तृप्त कर दिया, उसे एक सच्चे सुख का मार्ग दिखा दिया। उन्होंने अपनी स्नेहयुक्त मन्द-मन्द मधुर मुस्कानमयी टेढ़ी चितवन से, प्रेम-प्रसाद-पूर्ण विलासमयी वाणी से, बल, विक्रम और साहसमयी ललित लीलाओं से त्रैलोक्य-पावन भुवनमोहन सर्वाङ्गसुन्दरी सुखमय सुघर स्वरूप से नृलोक को रमण कराया, उसे आनन्दित किया, उन श्रीहरि के सम्पूर्ण अङ्ग का वर्णन मुनियो! कौन कर सकता है? केवल बानगी के लिये, रस का चस्का लगाने के लिये मैं उनके अनुपम आनन का यत्किञ्चित् वर्णन करके फिर उनकी ललित लीलाओं को संक्षेप मे कहूँगा।

मुनियो! तनिक आप अपने दुग्ध-फेन के समान स्वच्छ, कमल के समान विकसित, करील के पुष्प के समान सरस नेत्रों को बंद करके श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-माधुर्य-युक्त आनन का ध्यान करें।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप बार-बार आनन-आनन कहते हैं। श्रीकृष्ण के मुख-कमल को आप मुखारविन्द, चन्द्रवदन, आदि क्यों नहीं कहते?"

सूतजी हँसते हुए बोले—"अजी, महाराज! आनन कहने मे अनेक हेतु हैं। आनन का अभिप्राय यह है कि इस मुख को अन्य साधारण मुख समझकर ऐसे ही देखने मत चले आना। आओ तो सम्हल कर आना। यह ऐसा अगाध रस-सागर है कि

आते ही निमग्न हो जाओगे, डूब जाओगे। इसलिये आ-आओ न न मत आना, मत आना।

अथवा मुख की जो चन्द्र से, कमल से, उपमा देते हो, वे सब उपमायें यहाँ फीकी पड जायँगी। आ समन्तात् न-न। अर्थात् न यहाँ चन्द टिक सकता है, न कमल। इसे तो बिना उपमा के अनुपम समझकर केवल 'आनन, ही उपचार से कह दिया।

अथवा जिनके दर्शनो से व्रज जीवों की चारो ओर से चेष्टायें हाती हैं, जो उस रूप माधुरी को सब ओर से देखते के देखते ही रह जाते हैं। "आसमन्तात् अनन चेष्टन-यद्दर्शनेन व्रज-जीवाना तत् आनन।" इस प्रकार यह आनन शब्द बह्वर्थ-वाचक है। इसलिये मेरे गुरुदेव ने बिना किसी विशेषण के लगाये इसे सीधा आनन कह दिया। यदि इसकी मैं शास्त्रीय विवेचना आरम्भ कर दूँ, तब तो आप सब आनन मे ही अटके रह जायँगे। यद्यपि जीव का आनन मे उलझ जाना ही परम पुरुपार्थ है, यही नेत्रों की सार्थकता है, फिर भी महाभाग नेत्रों को ही आहार देना धर्म नहीं है ये बेचारे कर्ण कब से प्यासे हैं? ये श्रीकृष्ण गुण-श्रवण के लोलुप हुए कब से अपने द्वारो को खोले खडे हैं? कुछ इनका भी तो शील-सकोच कीजिये, इन्हे भी तो यशामृत का पान करने दीजिये। अतः अब आनन का ही अर्थ न करके मैं आनन की कुछ छटा की चासनी चखाकर, उसकी ही बानगी बता, श्रुत-मधुर अत्यत ही कर्णप्रिय श्रीकृष्णचरित कहूँगा।"

शौनकजी बोले—"सूतजी! आसमन्तात् अनन = आननम् या आ समन्तात् न-न आनन इन व्याख्याओं मे हमें कोई आनन्द नहीं आता। आप तो हमें उस अनुपम आनन की मानसिक झाँकी करावें।"

सूतजी बोले—'हाँ, तो महाराज! नेत्रों को बन्द कीजिये।

ध्यान कीजिये। माथे पर मोर-मुकुट हिल रहा है। काले काले घुँघराले, सटकारे, प्यारे कुटिल केश हिल हिलकर कपोलों को व्यजन कर रहे हैं। अर्ध स्फुटित नील कमल के समान कर्ण कुछ तो केशों से ढँके हैं। नीचे के भाग में जो छिद्र हैं, उनमें मकराकृत कमनीय कुण्डल लटक रहे हैं, वे कुण्डल कर्णों की ही नहीं, कपोलों की भी श्रीवृद्धि कर रहे हैं। गोल-गोल आरसी के समान लोल कपोल कुण्डलों की दमक से, नेत्ररश्मियों की चमक से, कुटिल केशों की आभा से, विकसित से दिखाई देते हैं। कुंदरू के समान लाल-लाल अत्यंत गुदगुदे रसभरे अधरों पर मन्द-मन्द मुस्कान छिटक रही है, मानों बन्धूक पुष्प की कलिका के ऊपर चन्द्र की रश्मियाँ छिटक रही हों और चुलबुली वायु आकर गुदगुदी करके उसे हँसा रही हो। उसी प्रकार वे रसीले-लजीले मधुमय ओंठ हँसी से हिल रहे हैं। दोनों कमलों के समान बड़े-बड़े नेत्रों के कटाक्षरूप बाणों को मानों भ्रकुटी रूप धनुष पर चढ़ाकर दर्शकों को आहत करने का उपक्रम कर रहे हों। ऐसे उन श्यामसुन्दर मदनमोहन आनन्दकन्द व्रजचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र के मुखारविन्द का अवलोकन करके उसके मधुर मकरन्द को अपने नयन पुटों द्वारा यथेष्ट पान करके नर हो अथवा नारी, विवाहिता हो अथवा क्वारी, त्यागी विरागी हो या घोर संसारी—कोईभी कभी तृप्त नहीं होते। सब चाहते थे, अपलक भाव से इस साकार रूप की स्यान आनन को निहारते ही रहें, किन्तु बीच में पलक प्रतिबन्ध डाल देते थे। निमेष उन्मेष होने से दर्शनों में व्यवधान पड़ जाता था। इसलिये सभी पलकों के अधिष्ठातृ देव राजा निमि को गाली देते थे कि यह हमारे दर्शन में विघ्न डालता है, पलकों को मारकर अन्तराय उपस्थित करता है। इस निगोड़े को निकाल दो। विधाता से कह दो, यह हमारे पलकों पर न बैठा करे। इसे

बैठना ही हो, तो तब बैठे, जब हम श्रीकृष्ण-रूप सुधा का पान न करते हों।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैं कहाँ तक कहूँ, भगवान् का सौन्दर्य-माधुर्य अकथनीय। है उसका अनुमान तो वे ही भाग्यशाली कर सकते हैं, जिन्होंने उसके एक बार दर्शन किये हों, फिर उसे संसार का सभी सौंदर्य फीका-फीका दिखाई देता है। महाभाग! अब मैं श्रीकृष्णचरित का आरम्भ करता हूँ, आप सब सावधान हो जायँ।"

छप्पय

मा पै चितवन मधुर मन्द मुसकान-मयी है।
नयन—पुटनि तैं पान करन छवि सुधामई है॥
कानन कुण्डल सुघर कपोलनि आनन दमके।
चमु रश्मि के परत सुदामिनि सम सो चमके॥
इक टक निरखहि नारि-नर, मन अँटके चित चकित है।
परे पलक व्यवधान तो, निमिकूँ कोसें दुखित है॥

⊰✤⊱